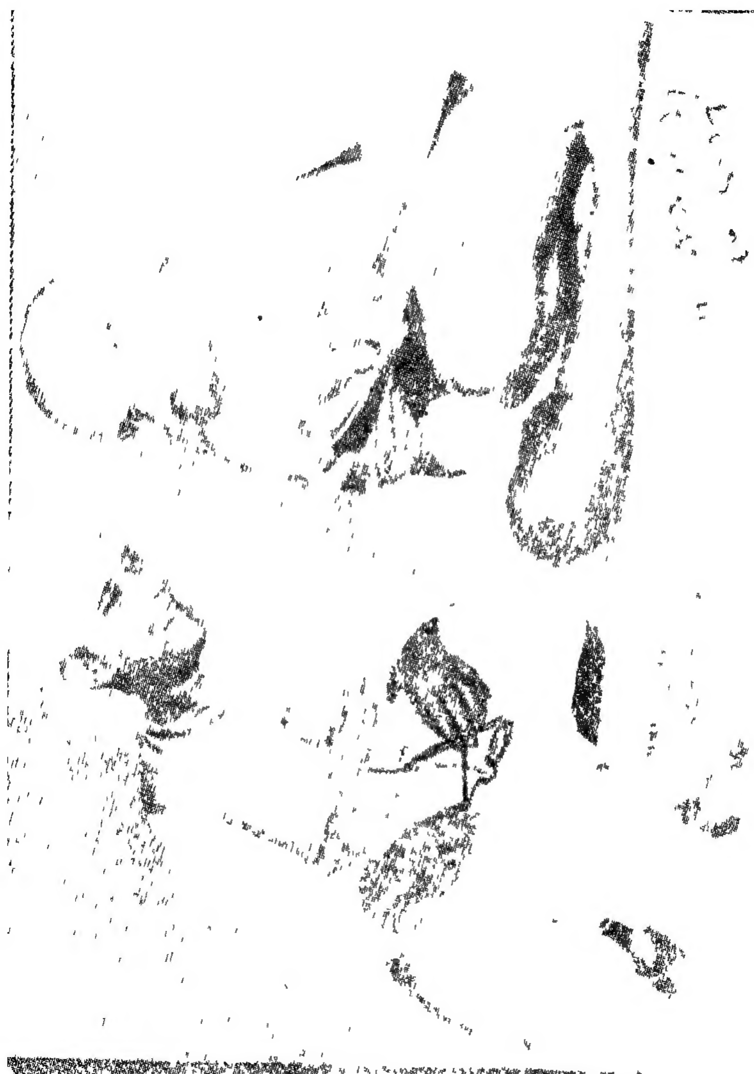


राष्ट्रपिता

जवाहरलाल नेहरू



१९५१
सत्साहित्य प्रकाशन
सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मन्त्री
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

दूसरी बार . १९५१
मूल्य
दो रुपये

मुद्रक
रामप्रताप त्रिपाठी
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

सूची

प्रकाशकीय

इस पुस्तक में हम श्री जवाहरलाल नेहरू के उन लेखो और भाषणो का संग्रह प्रकाशित कर रहे हैं, जिनमें उन्होंने राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के प्रति केवल श्रद्धांजलि ही अर्पित नहीं की है, अपितु उनके व्यक्तित्व और उनकी विविध प्रवृत्तियो पर अपनी भावनाएं एवं मानसिक प्रतिक्रियाएं भी व्यक्त की है। पुस्तक मे अनेक सजीव चित्र है। कहीं भावुक कवि की कल्पना मिलती है तो कहीं एक तटस्थ अन्वेषक की सूक्ष्म दृष्टि और उसके गहरे अध्ययन का पता चलता है। निस्सदेह इस पुस्तक को हम बापू के मानवीय और राजनैतिक जीवन का संक्षिप्त इतिहास कह सकते है।

हमे हर्ष है कि नेहरूजी के कईएक भाषण हमें मूल रूप मे प्राप्त हो गए है। उन्हे यथासंभव ज्यो-का-त्यों दिया जा रहा है। यथा, बापू के अस्थि-विसर्जन के समय त्रिवेणी पर और पहली बरसी के अवसर पर राजघाट पर दिये गए भाषण। सर्वोदय प्रदर्शिनी (राजघाट) का उद्घाटन-भाषण भी उन्हींकी बोली म दिया गया है।

इस पुस्तक की सामग्री के सकलन मे पंडितजी की पुस्तको के अलावा ऑल इंडिया रेडियो तथा 'हिन्दुस्तान' से काफी सहायता मिली है। संपादन एवं अनुवाद का कार्य श्री बांकेबिहारी भटनागर एम० ए० (सहकारी संपादक—'हिंदुस्तान') ने किया है। पुस्तक के चित्र श्रीमती इंदिरा गाधी और श्री कनु गाधी की कृपा से प्राप्त हुए है। पुस्तक की तैयारी में इन तथा जिन अन्य बन्धुओ से हमें मदद मिली है उन सबके हम हृदय से आभारी है।

पुनश्च—

इस दूसरे संस्करण में सन् १९४८ मे गांधीजयंती के दिन दिया गया श्री जवाहरलालजी का रेडियो-भाषण भी ले लिया गया है। इसके अनुवाद के लिए हम श्री सीतलासहायजी के आभारी है।

क्या लिखूँ

[इस पुस्तक के लिए हिन्दी में कुछ और लिख देने के लिए जब हमने श्री जवाहरलालजी से अनुरोध किया तो उन्होंने अपनी झिझक दिखाते हुए लगभग वही भावनाएं व्यक्त की, जो उन्होंने करीब १० वर्ष पहले श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन द्वारा संपादित 'गांधी-अभिनन्दन-ग्रन्थ' के हिन्दी संस्करण के लिए विशेष रूप से लिखित इन पंक्तियों में की है। नेहरूजी की और दुनिया की निगाह में बापू का क्या स्थान था और है, इसका अनुमान पाठकों को इन चंद पंक्तियों से भली भांति हो जायगा। —संपादक]

कुछ महीने हुए श्री राधाकृष्णन् ने मुझे लिखा था कि वह गांधी-जयन्ती के लिए एक किताब तैयार कर रहे हैं, जिसमें दुनिया के बहुत सारे बड़े आदमी गांधीजी के बारे मे लिखेंगे। मुझे भी उन्होंने इस किताब के लिए एक लेख लिखने को कहा था। मैं कुछ राजी हुआ; लेकिन फिर भी एक झिझक-सी थी। गांधीजी के बारे में कुछ लिखना मेरे लिए आसान बात नहीं थी। फिर मैं ऐसी परेशानियों में फंसा कि लिखना और भी कठिन हो गया और आखिर में मैंने कोई मजमून नहीं लिखा।

मैं यों अक्सर कुछ-न-कुछ लिखा करता हूँ और लिखने में दिलचस्पी भी है। फिर यह झिझक कैसी? कभी-कभी गांधीजी पर लिखा है। लेकिन जितना मैंने सोचा; यह मजमून मेरे काबू के बाहर निकला। हां, यह कुछ आसान था कि मैं कुछ ऊपरी बातें जो दुनिया जानती है उनको दोहराऊं। लेकिन उससे फायदा क्या? अक्सर उनकी बातें मेरी समझ में नहीं आईं, कुछ बातों में उनसे मतभेद भी हुआ। एक जमाने से उनका साथ रहा। उनकी निगरानी में काम किया,

उनका छापा मेरे ऊपर पड़ा, मेरे खयाल बदले और रहने का ढंग भी बदला। जिन्दगी ने एक करवट ली, दिल बढ़ा, कुछ-कुछ ऊचा हुआ, आखों मे रोशनी आई, नए रास्ते देखे और उन रास्तो पर लाखो और करोड़ों के साथ हमकदम होकर चला। क्या मै ऐसे शख्स की निस्बत लिखूं जो कि हिंदुस्तान का और मेरा जुज़ हो गया और जिसने जमाने को अपना बनाया ?

हम जो इस जमाने में बढ़े और उसके असर में पले, हम कैसे उसका अन्दाजा करें ? हमारे रग और रेशे में उसकी मोहर पड़ी और हम सब उसके टुकड़े है।

जहां-जहा मै हिंदुस्तान के बाहर गया, चाहे यूरोप का कोई देश हो या चीन या कोई और मुल्क, पहला सवाल मुझसे यही हुआ—"गांधीजी कैसे है ? अब क्या करते है ?" हर जगह गांधीजी का नाम पहुंचा था, गांधीजी की शोहरत पहुची थी। गैरो के लिए गांधी हिन्दुस्तान और हिंदुस्तान गांधी। हमारे देश की इज्जत बढ़ी, हैसियत बढ़ी। दुनिया ने तसलीम किया कि एक अजीब ऊचे दर्जे का आदमी हिंदुस्तान में पैदा हुआ, फिर से अंधेरे में रोशनी आई। जो सवाल लाखो के दिल में थे और उनको परेशान करते थे, उनके जवाबो की कुछ झलक नजर आई। आज उस जवाब पर अमल न हो तो कल होगा, परसों होगा। उस जवाब मे और जवाब भी मिलेंगे, और भी अंधेरे में रोशनी पड़ेगी; लेकिन वह बुनियाद पक्की है और उसी पर इमारत खड़ी होगी।

जवाहरलाल नेहरू

संदेश

"हिंदुस्तान अपनी आजादी के लिए पीढ़ियों से जो लड़ाई लड़ता आया है, उसमें उसे दुःख भी उठाने पड़े और कामयाबी भी मिली—कितनी ही बार उसकी जीत हुई और कितनी ही बार उसे हार का सामना करना पड़ा। लेकिन राष्ट्रपिता बापू ने हमें जिस खूबी के साथ रास्ता दिखाया उससे वह दुःख दुःख नहीं रह गया, उसने जनता को पवित्र और शुद्ध किया और हर हार दुगने उत्साह के साथ काम करने की प्रेरणा और जीत की भूमिका में बदल गई।

"हाल के वर्ष हमारे लिए परीक्षा और कठिनाई के वर्ष थे, लेकिन उनमें भी गांधीजी के संदेश ने कौम का उत्साह बढ़ाया। इन वर्षों में हमें कुछ हद तक कामयाबी मिली और जिस आजादी के लिए हम लड़ते और दुःख उठाते आये थे, वह हासिल हो गई। लेकिन इस कामयाबी के लिए हमें सचमुच बड़ी भारी कीमत चुकानी पड़ी; क्योंकि मातृभूमि के दो टुकड़े हो गए और उस अभागी घटना के बाद जनता पर पागलपन छा गया और कुछ समय के लिए ऐसा लगा कि वे सब बड़े आदर्श, जिनके गांधीजी हामी थे, अंधेरे में छिप गये हों। उस अंधेरे में गांधीजी के उत्साह दिलाने वाले संदेश की रोशनी दिखाई दी और शोक से भरे हुए अनगिनत लोगों को उससे ताकत और तसल्ली मिली।

"और उसके बाद मुल्क को सबसे बड़ा धक्का लगा—उस महापुरुष की हत्या हुई जो कि प्रेम का अवतार था और था कौम की सरल व न जीती जा सकने वाली आत्मा की मूर्ति। इसलिए वह कामयाबी, जिसके लिए जनता ने इतनी तपस्या की थी और जो इतनी लड़ाई के बाद मिली थी, हमारे लिए आजादी की चमक नहीं, बल्कि दुःख और निराशा लेकर आई।

"गांधीजी की पवित्र याद में और उनके उपदेशों का आदर करने के लिए कौम ने इन जबर्दस्त खतरो का सामना किया। इनमें सबसे बड़ा खतरा उस भावना का खतरा था जो कि लोगों के दिमाग पर छा गई थी और जिसकी वजह से कुछ समय के लिए वे महान् उपदेश भुला दिये गए थे, जो उन गुरुदेव ने हमें दिये थे।

"जिसने, कौम को आजादी दिलाई और उसे जीवन दिया, उसकी मृत्यु को पूरा एक साल हो गया। उसकी इस पहली बरसी पर हम उस महात्मा और उसके महान् संदेश को श्रद्धांजलि अर्पित करते है और इस बात का पक्का इरादा करते है कि जीवन देनेवाले उस संदेश की रोशनी में हम अपने देश की जनता की और मानवता की सेवा जारी रखेंगे।

"गाधीजी के नेतृत्व में मुल्क के लिए अहिंसक तरीकों पर राजनैतिक आजादी हासिल कर चुकने के बाद अब हमें सामाजिक और आर्थिक आजादी के लिए मेहनत करनी है, ताकि हिंदुस्तान के सभी आदमी बिना किसी जाति या मजहब के भेदभाव के, आगे बढ़ सकें और उन्हे उन्नति का बराबर मौका मिले। इस काम के लिए एक बिलकुल नये रास्ते की जरूरत है और यह भी जरूरी है कि हम रचनात्मक भावना के साथ मातृभूमि की सेवा में अपने को समर्पित कर दें।

"हिंदुस्तान की जनता आजादी पा चुकी है, लेकिन इसके मीठे फलों का स्वाद चखने के लिए उसे अपनी जिम्मेदारियां पूरी करनी होगी। हमें यह याद रखना चाहिए कि जनता की सेवा करना और अपनी जिम्मेदारियो को पूरा करना ही हमारा सबसे बड़ा सौभाग्य है और आइन्दा भी होना चाहिए। जो लोग इन जिम्मेदारियो को भूलकर नौकरी पाने या ताकत हासिल करने की धुन में रहते हैं वे मुल्क का बुरा कर रहे हैं।

"गांधीजी ने हमें खास तौर से यह शिक्षा दी थी कि हमें अपनी सेवा विशेष रूप से देश की जनता में एकता और सद्भावना बढ़ाने, छोटे-बड़े का ही भेद-भाव नहीं बल्कि जन्म, जाति या धर्म के नाम पर किये जाने वाले सभी तरह के भेदभावों को मिटाने और शांतिपूर्ण तरीकों से वर्गहीन जनतन्त्रीय समाज स्थापित करने में लगानी चाहिए। इन सबसे भी बड़ी उनकी शिक्षा यह थी कि चाहे कितनी भी कीमत देनी पड़े और जैसी भी स्थिति हो, हमें उन नैतिक सिद्धांतों का पालन करना चाहिए जिनसे जीवन अर्थमय बनता है।

"इस संदेश की रोशनी में हम पूरी सचाई के साथ आज की सारी—राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय —कठिनाइयों और संकटों का सामना करने की चेष्टा करेंगे जिससे कि देश की आजादी बढ़े, उसकी नैतिक मर्यादा ऊंची उठे और वे महान् उद्देश्य पूरे हों जिनके गांधीजी हामी थे।"

: १ :

गांधी और टैगोर

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में टैगोर और गांधी निस्संदेह भारत के दो प्रमुख और प्रभावशाली व्यक्ति थे। उनकी तुलना करना और साथ ही उनके भेदों को देखना शिक्षाप्रद होगा। स्वभाव और आकारप्रकार में जितने ये दोनों एक दूसरे-से भिन्न थे उतने शायद ही कोई दो व्यक्ति होंगे। टैगोर एक राजसी कलाकार थे, बाद में उनके विचार जनतन्त्रीय बने और श्रमहारा श्रेणी के लोगो के साथ उनकी सहानभूति हो गई। वह मुख्यतः भारत की उस सांस्कृतिक परम्परा के प्रतिनिधि थे जो जीवन को उसके पूर्ण वैभव के साथ स्वीकार करती है और उसे कलापूर्ण ढग से बिताने में विश्वास करती है। गाधी जी प्रधानतः जनता के आदमी थे, वह एक प्रकार से भारतीय किसान की प्रति मूर्ति थे और भारत की एक दूसरी पुरातन परम्परा का प्रतिनिधित्व करते थे—त्याग और सन्यास की परम्परा। फिर भी टैगोर प्रधानतः एक विचारक थे और गाधीजी एकाग्र व सतत क्रियाशीलता के हामी। अपने-अपने ढंग पर दोनो के विचार अन्तर्राष्ट्रीय थे, फिर भी दोनो कट्टर भारतीय थे। वे भारत के दो अलग-अलग पर सामंजस्यपूर्ण पहलुओं का प्रतिनिधित्व करते थे और एक-दूसरे के पूरक थे।

भारत की राजनैतिक चेतना की जागृति

पहली बड़ी लड़ाई से पहले (अर्थात् सन् १९१४ से पूर्व) जबकि भारत मे कोई राजनैतिक चेतना नहीं थी, एक सुदूर देश में भारत की मर्यादा के लिए एक वीरतापूर्ण और अद्वितीय लड़ाई छिड़ी। वह देश दक्षिण अफ्रीका था, जहां भारत के बहुत-से मजदूर और कुछ व्यापारी भी जा बसे थे। वहां उनका बड़ा अनादर होता

था और उनके साथ तरह-तरह का बुरा बर्ताव किया जाता था, क्योंकि उन दिनों वहां जातीय अहंकार का बोलबाला था। तभी ऐसा हुआ कि भारत का एक नौजवान बैरिस्टर एक मुकदमे की पैरवी करने के लिए दक्षिण अफ्रीका ले जाया गया। वहां उसने अपने देश के भाईबंदों की दुर्दशा देखी और इससे वह बड़ा अपमानित और दु:खी हुआ। उसने उनकी सहायता में अपना तन, मन, धन—सब कुछ लगा देने का संकल्प कर लिया। कई वर्ष तक वह चुपचाप काम करता रहा, उसने अपना वकालत का पेशा छोड़ दिया, उसके पास जो कुछ भी था सब त्याग दिया और जिस ध्येय को लेकर वह आगे बढ़ा था उसी में पूरी तरह से लीन रहा।

यह आदमी मोहनदास करमचन्द गांधी था। आज भारत का बच्चा-बच्चा उसे जानता और प्यार करता है, किंतु उन दिनों उसे दक्षिण अफ्रीका से बाहर बहुत ही कम लोग जानते थे। एकाएक उस का नाम बिजली की तरह कौंध कर भारत तक पहुंच गया और लोग उसकी तथा उसके वीरतापूर्ण संघर्ष की आश्चर्य, प्रशंसा और गर्व के साथ चर्चा करने लगे। दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने वहां के भारतीयों को और भी अधिक अपमानित करने की चेष्टा की पर भारतीयों ने गांधी के नेतृत्व में सिर झुकाने से इन्कार कर दिया। यह एक ताज्जुब की बात थी कि गरीब, पद-दलित और अज्ञानी मजदूरों ने और उनके साथ कुछ छोटे-मोटे व्यापारियों ने स्वदेश से इतनी दूर रहते हुए भी ऐसा साहस दिखलाया।

इससे भी अधिक आश्चर्यजनक था वह तरीका, जिसे इन लोगों ने अपनाया था और जो एक राजनैतिक हथियार के रूप में विश्व के इतिहास में बिलकुल नया प्रयोग था। तब से हम उसका नाम अक्सर सुनते आए हैं। वह था गांधी का सत्याग्रह —जिसका अर्थ है 'सत्य पर डटे रहना'। कभी-कभी वही 'निष्क्रिय प्रतिरोध' के नाम से भी पुकारा जाता है, किंतु यह उसका शुद्ध अनुवाद नहीं है, क्योंकि उसमें काफी क्रियाशीलता होती है। यद्यपि अहिंसा उसका एक मुख्य अंग है तथापि वह केवल विरोध का अभाव मात्र नहीं है। गांधी ने अपने इस अहिंसात्मक युद्ध से भारत

और दक्षिण अफ्रीका को चकित कर दिया और भारतवासियों को यह जानकर बड़ा हर्ष और गौरव अनुभव हुआ कि दक्षिण अफ्रीका में हमारे हजारों भाई-बहन हंसते-हंसते जेल जा रहे है। अपने देश की गुलामी और नपुंसकता पर हम मन-ही-मन बड़े लज्जित थे और अब अपने ही भाई-बहनो द्वारा दी गई इस साहसपूर्ण चुनौती का नमूना देख कर हमारा आत्म-सम्मान ऊंचा उठ गया। एकाएक इस प्रश्न पर सारे भारतवर्ष में राजनैतिक चेतना जाग उठी और रुपया धड़ाधड़ दक्षिण अफ्रीका पहुंचने लगा। यह संघर्ष तब तक बंद नहीं हुआ जब तक कि गांधीजी और दक्षिण अफ्रीका की सरकार में समझौता नहीं हो लिया।

पहली मुलाकात

गाधीजी से मेरी पहली मुलाकात लखनऊ कांग्रेस के समय सन् १९१६ में बड़े दिनो में हुई। जिस बहादुरी के साथ वह दक्षिण अफ्रीका में लड़े थे उसके लिए हम सब उनकी प्रशंसा करते थे, किंतु हममें से बहुत-से नौजवानो को वह अपने से बहुत दूर, बिलकुल भिन्न और अराजनैतिक मालूम पड़ते थे। उन दिनों उन्होंने कांग्रेस या राष्ट्रीय राजनीति में भाग लेने से इन्कार कर दिया था और अपने को दक्षिण अफ्रीका के भारतीयो के प्रश्न तक ही सीमित रखा था। इसके कुछ ही दिनों बाद उन्होंने चम्पारन में किसानो की ओर से जो साहसिक कार्य किये और इन कार्यों में उन्हें जो विजय मिली उससे हममें उत्साह की एक लहर दौड़ गई। हमने देखा कि वह अपने तरीको का भारत में भी प्रयोग करने को तैयार है और उन तरीकों में हमें सफलता की आशा दिखाई दी।

महासमर के बाद भारतवासी उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करते रहे कि देखें अब हमें क्या मिलता है। उनके मन में क्रोध था, वे लड़ने को उतारू दिखाई देते थे, उन्हें कुछ आशा भी नहीं थी, फिर भी वे प्रतीक्षा में थे। कुछ ही महीनों में नई ब्रिटिश नीति का पहला फल, जिसका कि इतनी उत्सुकता के साथ इन्तजार किया

जा रहा था, एक ऐसे प्रस्ताव के रूप में दिखाई दिया, जिसमें क्रान्तिकारी आंदोलन को दबाने के लिए खास कानून पास करने की व्यवस्था की गई थी। अधिक स्वतंत्रता के बदले अधिक दमन होने वाला था। इन कानूनो का प्रस्ताव एक कमेटी की रिपोर्ट के आधार पर तैयार किया गया था और वे 'रौलट बिल' कहलाते थे। कुछ ही दिनो में ये बिल देश के कोने-कोने मे 'काले बिल' कह कर पुकारे जाने लगे और सब जगह सब वर्गों के भारतवासियों ने, जिनमें नरम से नरम विचार वाले भी शामिल थे, उनकी निन्दा की। इन बिलो में सरकार को बड़े-बड़े अधिकार दिये गये थे और पुलिस को लोगो को गिरफ्तार करने, अदालत में पेश किये बिना ही जेल में रखने या जिस किसी को वह पसन्द नहीं करती थी या शक की नजर से देखती थी, उस पर गुप्त अदालती कार्रवाई करने का हक दिया गया था। उन दिनो इन बिलो का वर्णन आम तौर पर इन शब्दो में किया जाता था . 'न वकील, न अपील, न दलील'। जैसे-जैसे इन बिलो का विरोध जोर पकड़ता गया वैसे-वैसे एक नई वस्तु प्रकट होती गई---देश के राजनैतिक आकाश में बादल का एक छोटा टुकड़ा दिखाई दिया जो बड़ी तेजी से बढ़ा और फैलते-फैलते सारे आकाश में छा गया।

यह नया तत्त्व था मोहनदास करमचन्द गांधी। लड़ाई के दिनो में ही वह दक्षिण अफ्रीका से लौट आया था और साबरमती के आश्रम में अपने साथियो को लेकर जा बसा था। अब तक वह राजनीति से अलग रहा था। उसने सरकार को युद्ध के लिए रंगरूटो की भरती तक करने में सहायता दी थी। दक्षिण अफ्रीका के अपने सत्याग्रह संघर्ष के बाद से वह भारत मे काफी ख्याति पा चुका था। सन् १९-१७ में उसने बिहार के चम्पारन जिले के यूरोपियन निलहे गोरो के दुःखी और पददलित किसानो के पक्ष का बड़ी सफलता के साथ समर्थन किया था। बाद में वह गुजरात में खेड़ा के किसानो का पक्ष लेकर खड़ा हुआ था। सन् १९१९ के आरम्भ में वह बहुत बीमार पड़ गया और अभी वह स्वस्थ भी न हो पाया था कि

रौलट बिल के विरोध से देश का कोना-कोना गूंज उठा। इस व्यापक क्रंदन में उसने भी अपनी आवाज मिला दी।

किन्तु उसकी आवाज औरों की आवाज से कुछ जुदा थी। वह एक शांत और धीमी आवाज थी, लेकिन जन समुदाय की चीख से ऊपर सुनाई देती थी। वह आवाज कोमल और मधुर थी, किन्तु उसमें कहीं-न-कहीं फौलादी स्वर छिपा दिखाई देता था। उस आवाज में शील था और वह हृदय को छू जाती थी, फिर भी उसमे कोई ऐसा तत्त्व था जो कठोर और भय उत्पन्न करने वाला था। उस आवाज का एक-एक शब्द अर्थपूर्ण था और उसमें एक तीव्र आत्मीयता का अनुभव होता था। शांति और मित्रता की उस भाषा में शक्ति व कर्म की कांपती हुई छाया थी और था अन्याय के सामने सिर न झुकाने का संकल्प। अब हम उस आवाज से परिचित हो चुके हैं, पिछले १४ वर्षों में हम उसे काफी सुन चुके हैं। किंतु सन् १९१९ की फरवरी और मार्च के महीनों में वह हमारे लिए एक बिलकुल नई आवाज थी। उस समय हमारी समझ में नहीं आता था कि हम उसका क्या करे, फिर भी हम उसे सुन-सुन कर रोमांचित हो उठते थे। वह हमारी उस राजनीति से बिलकुल भिन्न थी जिसमें शोरगुल बहुत होता था और निंदा करने के सिवा और कुछ नही किया जाता था। वह उन लंबे-लंबे भाषणो से भी बिलकुल अलग थी, जिनके अन्त में विरोध के वे निरर्थक और निष्फल प्रस्ताव पास होते थे, जिन्हे कोई अधिक महत्त्व नही देता था। गाधी की राजनीति कर्म की राजनीति थी, बात की नही।

सत्याग्रह-आंदोलन

महात्मा गांधी ने ऐसे लोगों की एक सत्याग्रह-सभा बनाई जो कुछ चुने हुए कानूनों को भंग कर अपने आपको गिरफ्तार कराने को तैयार थे। उस समय यह एक बिलकुल नया विचार था और हम में से बहुत से लोग उससे उत्तेजित

हुए, यद्यपि बहुत-से पीछे भी हटे। आज वही सत्याग्रह एक रोजमर्रा की घटना बन गया है और हममें से अधिकांश के लिए तो वह जीवन का एक नियमित और स्थायी अंग हो गया है। जैसा कि गांधीजी किया करते थे पहले उन्होंने वाइसराय के पास एक नम्र अपील और चेतावनी भेजी, लेकिन जब उन्होंने देखा कि भारत के सभी वर्गों के विरोध के बावजूद ब्रिटिश सरकार रौलट बिलों को कानून का रूप देने पर तुली है तो उन्होंने कानून बनने के बाद पहले इतवार को ही सारे देश में शोक मनाने, हड़ताल करने, हर तरह का काम बंद रखने और सभाएं करने की अपील की। यह सत्याग्रह आंदोलन का श्रीगणेश करने के लिए किया गया था और इसी अपील के अनुसार रविवार, ६ अप्रैल, १९१९ को सारे देश में—गांव-गांव और शहर शहर में —सत्याग्रह दिवस मनाया गया। अपने ढंग का यह पहला अखिल भारतीय प्रदर्शन था। उसका लोगों पर जबर्दस्त प्रभाव पड़ा और उसमें सभी प्रकार के लोगों और जातियों ने भाग लिया। हममें से जिन लोगों ने इस हड़ताल के लिए कार्य किया था, वे उसकी सफलता पर स्तंभित रह गये। हम शहरों के बहुत ही कम लोगों तक पहुंच पाये थे, किंतु देश में एक नई फिजा छाई हुई थी और किसी-न-किसी तरह हमारा संदेश लंबे-चौड़े देश के दूर-दूर के गांवों तक पहुंच गया था। यह पहला अवसर था जब गांव और शहर वालों ने साथ-साथ एक जन-व्यापक राजनैतिक प्रदर्शन में भाग लिया।

दिल्ली में तारीख की भूल से हड़ताल एक सप्ताह पहले अर्थात् ३१ मार्च १९१९ ही को मना ली गई थी। उन दिनों दिल्ली के हिंदुओं और मुसलमानों में गजब का भाईचारा और प्यार था और वह दृश्य कितना रोमांचकारी था जब कि आर्यसमाज के महान् नेता स्वामी श्रद्धानन्द ने दिल्ली की प्रसिद्ध जामा मस्जिद में जा कर एक बहुत बड़े मजमे के सामने भाषण दिया था। उस ३१ मार्च को पुलिस और फौज ने गलियों में जमा हुई बड़ी-बड़ी भीड़ों को तितर-बितर करने की चेष्टा की और उन पर गोलियां तक चलाईं, जिससे कई लोग मारे गये। स्वामी श्रद्धानन्द ने,

जिनका लंबा शरीर संन्यासियों के वस्त्र में बड़ा भव्य दिखाई देता था, चांदनी चौक में गुरखों की संगीनों का निश्चल दृष्टि और खुली हुई छाती के साथ सामना किया। ये संगीनें उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकीं और इस घटना से सारे भारत वर्ष में रोमांच हो गया; किंतु दुर्भाग्य की बात है कि आठ साल भी नहीं बीतने पाये थे कि एक मतवाले मुसलमान ने धोखे से रोग शैय्या पर ही उनकी हत्या कर डाली।

६ अप्रैल को सत्याग्रह-दिवस मनाने के बाद घटनाएं बड़ी तेजी से आगे बढ़ीं। १० अप्रैल को अमृतसर में गड़बड़ी हुई जब कि अपने नेता डाक्टर किचलू और डाक्टर सत्यपाल की गिरफ्तारी पर शोक मनाती हुई निश्शस्त्र और नंगे सिर भीड़ फौज की गोलियों का शिकार बनी और उसमें से कई लोग मारे गये। इस पर भीड़ ने बदले के उन्माद में दफ्तरों के बैठे हुए पांच या छः निर्दोष अंग्रेजों को मार डाला और बैंकों की इमारतें फूक डालीं। इसके बाद मानो पंजाब पर एक परदा पड़ गया। वहां कड़ा सेन्सर बैठा दिया गया और पंजाब शेष भारत से बिलकुल कट-सा गया। वहां से शायद ही कोई खबर आ पाती थी और लोगों का वहां आना-जाना मुश्किल था। वहां फौजी कानून भी जारी कर दिया गया था जिसका कष्ट जनता को कई महीनों तक उठाना पड़ा। धीरे-धीरे हफ्तों और महीनों की यातनापूर्ण प्रतीक्षा के पश्चात् परदा उठा और वहां के भीषण सत्य का पता चला।

अमृतसर-हत्याकांड

१३ अप्रैल को अमृतसर के जलियांवाला बाग में जो कत्लेआम हुआ था उसे सारी दुनिया जानती है। मौत के उस फंदे में फंसकर, जिससे निकलने का कोई रास्ता नहीं था, हजारों की जानें गईं और हजारों घायल हुए। 'अमृतसर' शब्द ही नरसंहार का पर्यायवाची बन गया है। वहां की घटना तो भयंकर थी ही, उससे भी अधिक लज्जाजनक घटनाएं सारे पंजाब में घटीं।

यह एक अजीब संयोग की बात थी कि उसी साल, दिसंबर के महीने में, कांग्रेस का अधिवेशन भी अमृतसर मे हुआ। इस अधिवेशन में कोई महत्त्वपूर्ण निर्णय नही किया गया, क्योकि बहुत-सी बातो की जांच की गई थी और उसके परिणाम का इन्तजार था। फिर भी एक बात साफ दिखाई देती थी—वह यह कि कांग्रेस अब पहले वाली कांग्रेस नहीं रह गई थी। उसमे अब सामूहिकता या जन-व्यापकता आ गई थी और एक नई—कुछ पुराने कांग्रेसियो की समझ में एक चिंताजनक—जीवनी-शक्ति आ गई थी। उस अधिवेशन में लोकमान्य तिलक उपस्थित थे, जो सदा की भाँति समझौते के लिए तैयार नहीं थे। वह आखीरी अधिवेशन था, जिसमें उन्होंने भाग लिया था, क्योकि अगले अधिवेशन से पहले ही उनकी मृत्यु हो गई। उसमे गाधीजी भी थे, जो जनता के प्रिय बन गये थे और कांग्रेस तथा भारतीय राजनीति पर अपनी दीर्घकालीन प्रभुता का आरभ ही कर रहे थे। उसी कांग्रेस में सीधे जेल से ऐसे बहुत-से नेता आये थे जिनका फौजी कानून के दिनों में बड़े भयंकर षड़यन्त्रो से सबध रहा था और जिन्हे लबी-लबी कैद की सजा हुई थी, किंतु जिन्हे अब क्षमा कर दिया गया था। प्रसिद्ध अली-बधु भी कई साल तक नजरबन्द रहने के बाद ठीक उसी समय छूट कर आये थे।

कांग्रेस मैदान मे

अगले साल कांग्रेस मैदान मे कूद पडी और गांधीजी का असहयोग का कार्य-क्रम अपना लिया गया। यह निर्णय कलकत्ते के विशेष अधिवेशन मे किया गया और नागपुर के वार्षिक अधिवेशन में इसकी पुष्टि की गई। सघर्ष की यह प्रणाली बिलकुल शांत या जैसा कि उसे नाम दिया गया था, अहिंसात्मक थी। उसका बुनियादी सिद्धात यह था कि ब्रिटिश सरकार को उसके शासन-कार्य और भारत के शोषण में सहायता देने से इन्कार कर दिया जाय। श्रीगणेश कई प्रकार से बहिष्कारों से किया जाने वाला था—विदेशी सरकार द्वारा दी गई उपाधियो का

बहिष्कार 'सरकारी उत्सवो का बहिष्कार, वकीलों और मवक्किलों द्वारा अदालतो का बहिष्कार, सरकारी स्कूलो और कालेजो का बहिष्कार और मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार के अन्तर्गत बनाई गई नई कौन्सिलो का बहिष्कार ! बाद में सिविल और फौजी नौकरियों और टैक्सो का भी बहिष्कार किया जाने वाला था। रचनात्मक दिशा मे हाथ से सूत कातने, खद्दर पहनने और अदालतो के बदले पंचायती न्यायालयो की स्थापना पर जोर दिया जाता था। इनके अलावा कांग्रेस कार्यक्रम के दो और मुख्य स्तम्भ थे—(१) हिंदू-मुस्लिम एकता और (२) हिंदुओं में से छुआ-छूत की भावना का निवारण।

कांग्रेस ने अपना विधान भी बदल दिया और वह एक कार्य-क्षम संस्था बन गई। साथ ही उसने अपने सामने जनता की सामूहिक सदस्यता का ध्येय भी रखा।

कांग्रेस का यह कार्यक्रम उसके अब तक के कार्य से बिल्कुल भिन्न था। निस्संदेह यह इस संसार में एक निराली योजना थी, क्योंकि दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का कार्यक्षेत्र बहुत ही सीमित था। परिणाम यह हुआ कि कुछ वर्ग के लोगो को तत्काल बडे-बडे त्याग करने पड़े। उदाहरण के लिए, वकीलो से वकालत छोड़ने के लिए कहा गया और विद्यार्थियो को सरकारी कालिजो का बहिष्कार करने का आदेश दिया गया। इस महान् प्रयोग के मूल्य को आंकना बड़ा मुश्किल था, क्योंकि और कोई ऐसी वस्तु नहीं थी जिससे उसकी तुलना की जाती। इसलिए कोई ताज्जुब नहीं कि पुराने और अनुभवी कांग्रेसी नेता झिझके और उन्हे नये कार्यक्रम की सफलता पर सन्देह हुआ। उस समय के सबसे बड़े नेता लोकमान्य तिलक कुछ ही पहले मर चुके थे। दूसरे प्रमुख नेताओ में से शुरू-शुरू मे केवल एक मोतीलाल नेहरू ने गाधीजी का समर्थन किया, किंतु आम कांग्रेसियो और जनसाधारण की प्रवृत्ति के संबंध में कोई संदेह नहीं रह गया। उन पर गांधीजी का बड़ा जबर्दस्त प्रभाव पड़ा। ऐसा लगता था जैसे गाधीजी ने उन पर कोई जादू कर दिया है और उन्होंने 'महात्मा गांधी की जय' के ऊंचे-ऊंचे नारे लगाते हुए उनके अहिंसा-

त्मक असहयोग के नए सिद्धांत को अपनी स्वीकृति प्रदान की। मुसलमानों ने भी कम उत्साह नहीं दिखाया। सच पूछिये तो अली-बन्धुओ के नेतृत्व में खिलाफत कमेटी ने इस कार्यक्रम को कांग्रेस से पहले ही अपना लिया था। थोड़े ही दिनो बाद जनता के उत्साह और असहयोग आंदोलन की प्रारंभिक सफलताओं ने अधिकांश पुराने कांग्रेसी नेताओ को भी अपनी ओर खींच लिया।

राष्ट्रीयता के विकास ने जनता का ध्यान राजनैतिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता की ओर आकर्षित किया। यह आवश्यकता केवल इसलिए नहीं थी कि निर्भर और दास बने रहना अपमानजनक था, या जैसा कि तिलक ने कहा था, स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार था और उसे प्राप्त करना हमारे लिए अनिवार्य था, बल्कि इसलिए भी कि जनता पर से निर्धनता का बोझ कम करना था। आखिर यह स्वतन्त्रता कैसे मिल सकती थी ? स्पष्ट ही वह हमारे चुपचाप बैठकर प्रतीक्षा करते रहने से नहीं मिल सकती थी। यह भी स्पष्ट हो गया था कि केवल विरोध करने और भीख मागने की नीति, जिसका अनुकरण अबतक कांग्रेस न्यूनाधिक उत्साह से करती आई थी, न केवल असम्मानजनक, बल्कि निरर्थक और निष्फल भी थी। विश्व के इतिहास में ऐसी नीति भी कभी सफल नहीं हुई थी और न उससे प्रभावित होकर किसी शासक या शक्तिशाली वर्ग ने अपने अधिकारो का त्याग ही किया था। इसके विपरीत, इतिहास ने हमें सिखाया था कि गुलाम बनाये गये लोगों और देशों ने हिंसात्मक विद्रोह और विप्लव से ही अपनी स्वाधीनता प्राप्त की है।

भारतवासियो के लिए सशस्त्र विद्रोह का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। हमारे पास न शस्त्र थे और न हम में से अधिकाश लोगो को शस्त्र चलाना ही आता था। इसके अलावा हिंसात्मक संघर्ष के लिए हम ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध चाहे कितनी भी शक्ति सग्रहीत क्यो न करते, उसके सगठित बल की बराबरी किसी तरह भी नहीं कर सकते थे। फौजें तो विद्रोह कर सकती थीं, किंतु निश्शस्त्र जनता विद्रोह कर सशस्त्र शक्ति का सामना कैसे कर सकती थी ? इसके अलावा व्यक्ति-

गत रूप से आंतक फैलाना या बम और पिस्तौल से किसी अफसर को मारना मानों अपना दिवालियापन दिखाना था। वह जनता के आधार को भ्रष्ट करने वाली बात थी और यह सोचना बिलकुल उपहासास्पद था कि उससे किसी शक्तिशाली और संगठित सरकार की जड़ हिलाई जा सकती थी, चाहे व्यक्तिगत रूप से उससे लोग कितने ही आतंकित क्यों न हो जाते।

अतः ये सब रास्ते बन्द थे और अपमानजनक दासता की उस असह्य अवस्था से कोई छुटकारा नहीं दिखाई देता था। जिन लोगों में थोड़ी बहुत भी भावुकता थी वे बड़े ही दुःखी और असहाय-से हो रहे थे। यही वह अवसर था जब गांधीजी ने अपना असहयोग का कार्यक्रम लोगों के सामने रखा। आयरलैण्ड के शिन फैन* की भाँति इस कार्यक्रम ने हमें अपने पर भरोसा रखना और अपनी शक्ति बढ़ाना सिखाया और निस्सन्देह वह सरकार पर दबाव डालने का एक बड़ा ही कारगर तरीका था। बहुत हद तक सरकार भारतवासियों के सहयोग पर ही निर्भर थी—चाहे यह सहयोग इच्छा से हो, चाहे अनिच्छा से—और यदि इस सहयोग को हटाकर सरकार का बहिष्कार किया जाता तो बहुत संभव था कि सैद्धांतिक रूप से उसकी सारी इमारत ही ढह जाती। यदि असहयोग से इतना न भी हो पाता तो इसमें तो संदेह ही नहीं था कि उससे सरकार पर बड़ा जबरदस्त दबाव पड़ सकता था और साथ ही जनता की शक्ति भी बढ़ सकती थी। इस आंदोलन की रूप रेखा पूर्ण रूप से शांतिपूर्ण थी, फिर भी वह केवल विरोधहीन नहीं था। वह

*आर्थर ग्रिफिथ नामक आयरिश युवक द्वारा प्रवर्तित एक नवीन नीति, जिसके मानने वालो का कहना था कि महायता के लिए आयरलैण्ड को इगलैण्ड का मुह नही ताकना चाहिए, बल्कि अपने राष्ट्र को ही शक्तिशाली बनाना चाहिए।

—संपादक

अन्याय के विरोध का एक निश्चित किंतु अहिंसात्मक रूप था। वस्तुतः वह एक शांतिपूर्ण विद्रोह था, युद्ध का सभ्य-से-सभ्य तरीका था, फिर भी शासक संस्था के स्थायित्व के लिए खतरनाक था। जनसाधारण को क्रियाशील बनाने का वह एक बड़ा ही सफल साधन था और भारतीय जनता की विशेष प्रतिभा के बिलकुल अनुकूल प्रतीत होता था। उससे हमारा व्यवहार निर्मल बन गया और शत्रु बगले झांकने लगा। जिस भय ने हमें दबोच रखा था वह जाता रहा और हम निडर होकर लोगो की आंखो से आंखें मिलाने लगे, जैसा कि हमने पहले कभी नहीं किया था और अपने मन की बाते साफ-साफ और पूरी तरह से कहने लगे। ऐसा मालूम होता था जैसे हमारे दिमाग पर से एक बड़ा भारी बोझ उतर गया है। बोलने और कार्य कर सकने की इस नई स्वतन्त्रता ने हममें विश्वास और बल भर दिया। इसके अलावा बहुत हद तक इस शांतिपूर्ण युक्ति ने उन भयंकर और कड़वी जातीय व राष्ट्रीय घृणाओ को बढ़ने से रोका, जो तब तक के ऐसे संघर्षों में सदा दिखाई देती रही थीं और इस प्रकार अंतिम समझौते का मार्ग सरल बन गया।

इसलिए आश्चर्य नही कि असहयोग के इस कार्यक्रम ने महात्मा गांधी के दिव्य व्यक्तित्व से आलोकित होकर देश का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया और उसे आशा से भर दिया। यह आशा बढी और उसके साथ-ही-साथ हमारा पुराना नैतिक पतन समाप्त हो गया। नई कांग्रेस ने देश के अधिकांश महत्त्वपूर्ण तत्त्वो को अपनी ओर खींचा और दिन-पर-दिन उनकी शक्ति और मर्यादा बढ़ती गई।

एक मुस्लिम सभा

१९२० मे राजनैतिक और खिलाफत आदोलन साथ-साथ चलते रहे। दोनो की एक दिशा थी और अन्त में जब कांग्रेस ने गांधीजी के अहिसात्मक असहयोग को अपनाया तो दोनो एक में मिल गए। असहयोग के कार्यक्रम को पहले खिलाफ़त कमेटी ने ही अपनाया और उसके श्रीगणेश के लिए पहली अगस्त निश्चित की गई।

उसी वर्ष कुछ पहले इस कार्यक्रम पर विचार करने के लिए इलाहाबाद में एक मुस्लिम सभा हुई थी (मैं समझता हूँ कि वह मुस्लिम लीग की कौंसिल थी)। बैठक सैयद रजा अली के घर पर हुई। मौलाना मुहम्मद अली उस समय भी यूरोप में थे, किन्तु मौलाना शौकत अली बैठक में मौजूद थे। मुझे उस बैठक की याद है, क्योंकि उससे मुझे पूरी-पूरी निराशा हुई थी। मौलाना शौकत अली में तो उत्साह था, किन्तु करीब-करीब और सब लोग बड़े ही दुःखी और परेशान थे। उनमें असहमत होने का तो साहस ही नहीं था फिर भी यह साफ मालूम होता था कि वे कोई काम जल्दबाजी में नहीं करना चाहते। मैंने सोचा कि क्या ये ही वे लोग हैं जो क्रांतिकारी आंदोलन का नेतृत्व करेंगे और ब्रिटिश साम्राज्य को चुनौती देंगे? गांधीजी ने उनके बीच भाषण दिया और उनकी बातें सुनने के बाद सभा में भाग लेने वाले पहले से भी अधिक भयभीत दिखाई देने लगे। अपने आवेशात्मक स्वर में गांधीजी खूब अच्छी तरह बोले। वह विनीत किंतु हीरे की तरह साफ और कठोर थे। उनकी बातें मीठी किंतु दृढ़ और हृदय के अन्तरतम प्रदेश से निकली हुई थी। उनकी आंखें नम्र और गहरी थीं, फिर भी उनमें गजब की शक्ति और संकल्प की चमक थी।

उन्होंने चेतावनी दी कि यह लड़ाई एकअत्यंत शक्तिशाली शत्रु से लड़ी जानेवाली बहुत बड़ी लड़ाई होगी, अगर आप इसे लड़ना चाहते हैं तो आपको सब कुछ खोने और साथ ही कड़ी-से-कड़ी अहिंसा और अनुशासन का पालन करने के लिए तैयार रहना चाहिए। उन्होंने यह भी बताया कि जिस तरह युद्ध की घोषणा होने पर फौजी कानून जारी किया जाता है उसी तरह यदि हम जीतना चाहते हैं तो हमें भी अपनी अहिंसात्मक लड़ाई में तानाशाही और फौजी कानून का प्रयोग करना होगा। आपको इस बात का पूरा अधिकार है कि आप मुझे ठोकर मार कर निकाल दें, मेरा सिर मांग लें और जब चाहे या जैसे चाहे मुझे दंड दें। किन्तु जब तक आप मुझे अपना नेता बनाकर रखना चाहते हैं, आपको मेरी शर्तें माननी होंगी और

तानाशाही तथा फौजी कानून के अनुशासन को स्वीकार करना होगा। किन्तु वह तानाशाही सदा आपकी सद्भावना, आपकी स्वीकृति और आपके सहयोग पर निर्भर होगी। जैसे ही आप यह समझें कि आपको मेरी जरूरत नहीं रह गई, आप मुझे निकाल फेंकें, मुझे पैरों तले कुचल दें, मैं रत्ती भर भी शिकायत नहीं करूंगा।

उन्होंने कुछ ऐसी ही बातें कहीं और बीच-बीच में जो सैनिक उपमाएं दीं व जिस दृढ़तापूर्ण सच्चाई से अपने विचार प्रकट किये उससे अधिकांश श्रोताओं के रोंगटे खड़े हो गये। किन्तु शौकतअली वहां ढिल मिल लोगों को सम्हालने के लिए मौजूद थे और जब राय देने का समय आया तो अधिकांश लोगों ने चुपचाप और शर्म से मुंह छिपाये गांधीजी के युद्ध-प्रस्ताव का समर्थन किया।

सभा से घर लौटते समय मैंने गांधीजी से पूछा कि क्या एक बड़े संघर्ष को आरंभ करने का यही ढंग है? मैंने उम्मीद की थी कि वहां बड़ा उत्साह दिखाई देगा, बड़े-बड़े जोशीले भाषण होंगे और लोगों की आंखें चमक उठेंगी, किंतु इनके बजाय वहां डरपोक और अधेड़ उम्र के लोगों की एक शिथिल-सी भीड़ दिखाई दी। फिर भी जनमत का इतना दबाव था कि इन लोगों को संघर्ष का समर्थन करना पड़ा।

भय का अन्त

हमारी जनता उत्तेजना, पीड़ा और संशय से भरे हुए कुछ इने-गिने वर्षों से नहीं, बल्कि पीढ़ियों से अपना खून और पसीना बहाती आई थी और यह क्रिया भारत की रग-रग में घुसती हुई इतनी गहरी पहुंच चुकी थी कि उससे हमारे सामाजिक जीवन का एक-एक पहलू विषाक्त हो गया था—ठीक उसी भयंकर रोग की तरह जो फेफड़ों के तंतुओं को खा जाता है और मनुष्य का धीरे-धीरे किन्तु निश्चित रूप से अन्त कर देता है। कभी-कभी तो हम सोचा करते थे कि ज्यादा

अच्छा यह होता कि हैजे या प्लेग की तरह हमारी मृत्यु का कोई अधिक तीव्र और स्पष्ट साधन मिल जाता। लेकिन वह एक क्षणिक भावना थी, क्योंकि इस प्रकार की साहसिकता से कुछ हाथ नहीं आता। गहरी बीमारियों का नीम हकीमों से इलाज कराने से कोई लाभ नहीं होता।

और तब गांधी आये। वह ताजी हवा के एक जबर्दस्त झोंके की तरह थे, जिसके स्पर्श का अनुभव होते ही हमने अपनी छातियां फैलाकर गहरी सांसें लीं। वह रोशनी की एक किरण जैसे थे जिसने अंधकार को बेध दिया और हमारी आंखों पर से परदा हटा दिया। वह एक तूफान की तरह थे, जिसके झोंके में सब चीजें अस्तव्यस्त हो गईं—सबसे अधिक लोगों की मानसिक क्रिया। वह किसी चोटी से नहीं उतरे, बल्कि भारत के करोड़ों जन में से ही प्रकट होते दिखाई दिये—उन्हींकी भाषा बोलते हुए, सदा उन्हीं की ओर संकेत करते हुए और उनके हृदय को दहला देने वाली स्थिति की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करते हुए। उन्होंने हमसे कहा कि जो लोग किसानों और मजदूरों का शोषण करके जीवित रहते हैं वे उन पर से अपना बोझ हटा लें और उस कुरीति को मिटा दें, जो उनकी निर्धनता और विपदा को जन्म देती है।

इसके बाद राजनैतिक स्वतन्त्रता ने एक नया रूप ग्रहण किया और उसमें नये-नये विषयों का प्रवेश होने लगा। जो कुछ भी गांधीजी ने कहा उसमें से अधिकांश को हमने या तो केवल अंशतः स्वीकार किया, या कभी-कभी बिलकुल स्वीकार नहीं किया। किंतु वह सब गौण था। उनके आदेश का सार यह था कि सदा जनता के कल्याण को दृष्टि में रखते हुए अभय और सत्य से काम करो। हमें पुराने ग्रन्थों में सिखाया गया था कि अभय व्यक्ति या राष्ट्र की सबसे बड़ी निधि है और उसका अभिप्राय केवल शारीरिक साहस से ही नहीं, बल्कि मानसिक निर्भयता से भी है। हमारे इतिहास के आरंभ में ही चाणक्य और याज्ञवल्क्य ने कहा था कि जन-नेताओं का कर्तव्य जनता को अभय-दान देना है। किंतु ब्रिटिश राज्य में

भारत में सबसे प्रमुख भावना भय की थी—एक सर्वव्यापी, दुःखदायी और गला घोटने वाला भय—फौज का भय, पुलिस का भय, कोने-कोने में फैली हुई खुफ़िया पुलिस का भय, अफसरो का भय, दमनकारी कानूनो का भय, कैद का भय, जमींदार के गुमाश्ते का भय, महाजन का भय और उस बेकारी तथा भूख का भय जो हर समय मुंह बाये खडी रहती थी। गांधीजो ने अपनी शात किंतु दृढ़ आवाज इसी सर्व व्यापी भय के विरुद्ध बुलन्द की। उन्होंने कहा—"डरो मत!"

किन्तु क्या यह बात इतनी सरल थी? नहीं। भय के भूत खड़े हो जाते हैं, जो असली भय से भी अधिक डरावने होते हैं। जहा तक असली भय का सवाल है, जब शांति के साथ उसका विश्लेषण किया जाता है और उसके परिणामो को स्वेच्छा से स्वीकार कर लिया जाता है तो उसका बहुत कुछ डरावनापन नष्ट हो जाता है।

इस तरह भय का मानो काला परदा जनता की आंखो से एकाएक उतर गया—पूरा तो नहीं, किंतु इतना अधिक कि आश्चर्य होता था। जिस तरह भय और झूठ में घनिष्ठ मित्रता है, उसी तरह सत्य और अभय में भी। यह तो ठीक है कि भारत की जनता पहले से बहुत अधिक सत्यवादी नही बन गई और न रातों ही रात उनके असली स्वभाव में ही परिवर्तन हुआ, लेकिन जैसे-जैसे झूठ और चोरों जैसे व्यवहार की आवश्यकता कम होती गई वैसे-वैसे परिवर्तन का एक समुद्र-सा लहराता दिखाई दिया। यह एक मनोवैज्ञानिक परिवर्तन था, ऐसा मालूम होता था जैसे मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने वाले किसी विशेषज्ञ ने रोगी के अतीत में गहरा उतर कर उसकी कमियो के उद्गम का पता लगा लिया हो और उन्हें उसकी दृष्टि के सामने ला-खड़ाकर उसके मन पर से उसका बोझ उतार दिया हो।

इसके अलावा हममें एक मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया भी हुई। जिस विदेशी शासन ने हमारा पतन और अपमान किया था उसके सामने इतने दिनों तक घुटने

टेक रखने के कारण हमें लज्जा आई और यह इच्छा उत्पन्न हुई कि अब चाहे कुछ भी हो, हम उसके आगे सिर नहीं झुकायेंगे। जितना सच हम पहले बोलते थे शायद उससे अधिक सच बोलना हमें नहीं आया, किंतु गांधीजी कट्टर सत्य के प्रतीक बने सदा हमें सहारा देते रहे और लज्जित कर-करके हममें सत्य बोलने की आदत डालते रहे।

सत्य क्या है ?

सत्य क्या है ? मैं इसकी परिभाषा ठीक-ठीक नहीं जानता। शायद सत्य एक तुलनात्मक वस्तु है और संपूर्ण सत्य हमारी पहुंच से बाहर है। सत्य के संबंध में अलग-अलग लोगों की अलग-अलग धारणाएं हो सकती हैं और प्रत्येक व्यक्ति पर उसकी अपनी पृष्ठभूमि, अपनी शिक्षा और अपनी भावनाओं का गहरा प्रभाव पड़ता है। यही बात गांधीजी के साथ थी। फिर भी जहां तक किसी एक व्यक्ति का सवाल है, कम-से-कम उसके लिए सत्य वही है, जिसका वह स्वयं अनुभव करता है और जिसे वह जानता है कि यह सच है। इस परिभाषा के अनुसार मेरी समझ में शायद ही कोई आदमी सत्य का इतना पालन करता हो जितना गांधीजी करते हैं। राजनीतिज्ञ के लिए सत्य एक खतरनाक गुण है, क्योंकि वह अपने मन की सारी बातें बता देता है और जनता को उसके बदलते हुए रूप तक दिखा देता है।

गांधीजी ने भारत के लाखों व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न तौर पर प्रभावित किया। कुछ लोगों ने अपने जीवन की सारी रूप रेखा ही बदल डाली और कुछ लोगों पर उनका केवल आंशिक प्रभाव पड़ा। कुछ लोग ऐसे भी थे जिन पर से उनका प्रभाव जाता रहा, किंतु ऐसा पूर्ण रूप से नहीं हुआ, क्योंकि उनके प्रभाव के कुछ अंश को पूरी तरह से मिटाना संभव नहीं हो सका। जुदा-जुदा लोगों पर जुदा-जुदा तरह की प्रतिक्रिया हुई और प्रत्येक व्यक्ति इस प्रश्न का अपना अलग-अलग

उत्तर देता था। कुछ लोग तो करीब-करीब आल्सीबियाडीज[1] के ही शब्दों में कहते थे—"इसके अलावा जब कभी हम किसी और को कुछ कहते सुनते हैं तो उसकी बातें चाहे कितनी भी जोशीली क्यों न हो, हम इस बात की रत्ती भर भी परवा नहीं करते कि वह क्या कह रहा है, किंतु जब हम आपको सुनते हैं या किसी और को आपकी बातों को दोहराते सुनते हैं तो चाहे वह उनका कितनी ही बुरी तरह से वर्णन क्यों न करता हो और उसको सुनने वाला चाहे पुरुष हो, चाहे स्त्री, चाहे बालक, हम बिलकुल स्तंभित और विमुग्ध हो जाते हैं। और, महाशयो, जहां तक मेरा प्रश्न है, अगर मुझे यह भय न हो कि आप कहेंगे कि मैं बिलकुल मुग्ध हो गया हूं तो मैं शपथ लेकर कह सकता हूं कि उनके शब्दों का मुझपर कितना अद्वितीय प्रभाव पड़ा और अब भी पड़ता है। जब तक मैं उनका बोलना सुनता रहता हूं मुझमें एक पवित्र रोष भरा रहता है जो कि किसी भी कोरीबेंट[2] से बुरा होता है और मेरा हृदय उछलता रहता है और मेरी आखों से आसू बहते रहते हैं—और यह दशा मेरी ही नहीं, बल्कि और बहुत से लोगों की भी होती है।

"हा, मैंने पेरिक्लीज[3] और दूसरे सभी बड़े वक्ताओं को सुना है और मैं समझा करता था कि वे बड़े ही जोशीले वक्ता है, किंतु उनका मुझपर कभी ऐसा प्रभाव नहीं पड़ा, उन्होंने कभी मेरी आत्मा में उथल-पुथल नहीं मचाई और उन्हें सुनने के बाद मैं सदा यही अनुभव करता रहा कि मैं नीचों से भी नीच हूं; किंतु इन दिनों मरियाज को सुनने के बाद मुझे अक्सर ऐसा लगता रहा है जैसे अब

---

१. ग्रीस का जनरल और राजनेता।

२. एक ग्रीक देवी की सेविका, जो माना जाता है कि, अपनी देवी के साथ भयंकर मुद्राओं के नृत्य करती जाती थी।

३. एथेन्स का राजनेता और विख्यात वक्ता।

भविष्य में मेरे लिए इस तरह का जीवन बिताना बिलकुल असंभव है।

"और एक बात ऐसी है जो मैंने किसी और के साथ कभी अनुभव नहीं की और जिसे आप मुझमें भी पाने की आशा नहीं कर सकते—वह है लज्जा की भावना। इस संसार में सुकरात की ही एक ऐसी हस्ती है जो मुझे लज्जित कर सकती है। चूंकि उससे बचने का कोई रास्ता नहीं, इसलिए मैं सोच लेता हूं कि वह मुझे जो करने को कहता है उसे मुझे कर लेना चाहिए। इतने पर भी जैसे ही मैं उसकी आंखों से ओझल होता हूँ मुझे इस बात की बिलकुल चिंता नहीं रह जाती कि मैं जनसाधारण में मिले रहने के लिए क्या कर रहा हूं। इसलिए मैं एक भागे हुए गुलाम की तरह तेजी से निकल जाता हूं और जितनी दूर तक उससे बच सकता हूँ बचता हूं। जब उससे फिर कभी मुलाकात होती है तो मुझे वे सब बातें याद आती हैं जो मुझे पहले अंगीकार करनी पड़ी थीं और स्वभावतः मुझे लज्जा आती है।

"मुझे तो सांप से भी ज्यादा विषैले जानवर ने डसा है। सच पूछिए मुझे जो डंक लगा है वह सबसे अधिक कष्टदायक है। मेरा हृदय डसा गया है या यों कहिए कि मेरा मस्तिष्क डसा गया है या आप जो कहना चाहें वही सही।"*

किसानों का सहयोग

गांधीजी ने कांग्रेस में घुसते ही फौरन उसके विधान में पूर्ण परिवर्तन कर दिया। उन्होंने उसे प्रजावादी और साधारण जनता की संस्था बना दिया। प्रजावादी तो वह पहले भी थी, किंतु अभी तक उसका मताधिकार सीमित था और वह उच्च वर्ग के लोगों तक ही परिमित थी। किंतु अब उसमें धड़ाधड़ किसान प्रवेश करने लगे और अपने नये रूप में वह एक महान ग्रामीण संस्था जैसी दिखाई देने

*प्लेटो की पंचवार्त्ता (फाइव डाइलौग्स आव प्लेटो)

लगी, जिसमें मध्यम वर्ग के लोगो की बहुलता थी। कांग्रेस का यह ग्रामीण रूप अभी और भी विकास पाने वाला था। उसमें औद्योगिक मजदूर भी आने लगे—अपनी पृथक संगठित हैसियत में नहीं, बल्कि व्यक्तिगत रूप में।

कर्म इस संस्था का आधार और उद्देश्य माना गया—वह कर्म जो शांतिपूर्ण युक्तियो पर आधारित होता है। अब तक कांग्रेस के सामने केवल दो ही विकल्प रहे थे—कोरी बातचीत करना और प्रस्ताव पास करना या फिर आतंककारी कार्रवाई करना। अब ये दोनो बातें हटा दी गई। आतंकवाद की तो विशेष रूप से निंदा की गई और वह कांग्रेस की आधारभूत नीति के बिलकुल प्रतिकूल माना गया। कार्य की एक नई प्रणाली निकाली गई, जो थी तो पूर्णतः शांतिपूर्ण, किंतु जिसमें अन्याय के सामने सिर न झुकाने और, फलतः, उसमें निहित पीड़ा और कष्ट को स्वेच्छा से स्वीकार करने का आदेश था। गांधीजी एक बड़े ही विलक्षण ढंग के शांतिवादी थे, क्योंकि वह विस्फोटक स्फूर्ति से परिपूर्ण कर्मशील व्यक्ति थे। वह भाग्य या किसी भी ऐसे तत्त्व के सामने जिसे वह बुरा समझते थे सिर नहीं झुकाते थे। उनमें अपार विरोध-शक्ति थी, यद्यपि वह शक्ति शांत और विनम्र थी। गांधीजी के कर्म की पुकार दुहेरी थी—एक तो विदेशी शासन को चुनौती देने व उसका विरोध करने की, और दूसरी स्वयं अपने देश की सामाजिक बुराइयो से संघर्ष करने की। देश की स्वाधीनता और शांतिपूर्ण कार्य-प्रणाली के आधारभूत लक्ष्य के अतिरिक्त कांग्रेस के दो और भी मुख्य उद्देश्य थे—एक राष्ट्रीय एकता, जिसमें अल्पसंख्यकों की समस्या का समाधान निहित था और दूसरा दलित जातियो का उत्थान तथा अस्पृश्यता के अभिशाप का निराकरण।

उपाधियां और नरेश

गांधीजी ने देखा कि ब्रिटिश राज्य मुख्यत. इन आधारो पर खड़ा है—भय, मर्यादा, जनता का इच्छित या अनिच्छित सहयोग और कुछ ऐसे लोग, जिनका

स्वार्थ ब्रिटिश राज्य के साथ बंधा हुआ था। अतः उन्होंने इन्हीं जड़ों पर आघात करना आरंभ किया। उन्होंने कहा, "उपाधियों का बहिष्कार करो।" और गो कि बहुत ही कम उपाधिधारियों ने उनकी बात मानी तो भी अंग्रेजों द्वारा दी जाने वाली उपाधियों पर से लोगों की आस्था हट गई और वे अपमान के चिह्न माने जाने लगे। जीवन की सार्थकता के नये-नये मान स्थापित होने लगे और वाइस-राय के दरबार और नरेशों की जो शान-शौकत लोगों को इतना प्रभावित करती थी, वह चारों ओर जनता की गरीबी और मुसीबतों से घिरी होने के कारण एका-एक बहुत ही हास्यास्पद, भद्दी और लज्जाजनक मालूम देने लगी। धनी लोगों में अब अपने धन का मिथ्या प्रदर्शन करने की उतनी उत्सुकता नहीं दिखाई देती थी और कम से कम दिखावे के लिए तो उन्होंने सरल जीवन को अपना लिया। पोशाक में तो वे साधारण जनता से प्रायः अभिन्न हो गये।

कांग्रेस के जो पुराने नेता एक बिलकुल ही और तरह की व ज्यादा आराम-तलब परम्परा में पले थे, उन्होंने ये नई बातें आसानी से नहीं अपनाईं और उन्हें जनता की भीड़ को देखकर चिन्ता हुई। फिर भी सारे देश को अपने प्रवाह में बहा लेजानेवाली नई विचारधारा की लहर इतनी तीव्र थी कि उसका कुछ प्रभाव उनपर भी पड़ा। कुछ लोगों ने उधर से मुंह भी मोड़ लिया और उनमें से एक मुहम्मदअली जिन्ना थे। उन्होंने कांग्रेस को छोड़ दिया— इसलिए नहीं कि उनका हिंदू-मुस्लिम प्रश्नपर कांग्रेससे कोई मतभेद हो गया था, बल्कि इसलिए कि वह अपने को इस नई और अधिक उन्नत विचारधारा के अनुकूल नहीं बना पाये। इससे भी अधिक इस कारण से कि उन्हें बेढंगे कपड़े पहने हुए हिन्दुस्तानी बोलने वाले लोगों का इस प्रकार झुंड-के-झुंड कांग्रेसमें घुसना अच्छा नहीं लगा। उनकी समझ में राजनीति एक उच्च कोटि की वस्तु थी और धारा-सभाओं या कमेटी के कमरों के लिए अधिक उपयुक्त थी। कुछ वर्ष तक वह अपने को बिलकुल अलग समझते रहे और उन्होंने सदा के लिए भारत छोड़कर चले जाने

का भी निश्चय कर लिया। वह इंग्लैण्ड में जा बसे और वहां कई साल तक रहे।

कहा जाता है, और मैं समझता हूं कि ठीक ही कहा जाता है, कि भारत-वासियों का स्वभाव प्रधानतः शांत है। शायद जीवन के प्रति पुरानी जाति के लोगों की मनोवृत्ति ऐसी ही हो जाती है और बहुत दिनों से चली आई आध्यात्मिक परम्परा का भी कुछ ऐसा ही परिणाम होता है। फिर भी गांधीजी भारत के एक आदर्श प्रतिनिधि होते हुए भी, शांतिवाद के पूरे प्रतिवाद हैं। उनमें गजब की स्फूर्ति और कर्मण्यता है, वह अपने को ही नहीं, बल्कि दूसरों को भी खदेड़ते रहते हैं। भारत-वासियों की धार्मिक परम्परा से युद्ध करने और उसे बदलने के लिए जितना श्रम गांधीजी ने किया है उतना मेरी जान में किसी और ने नहीं किया।

उन्होंने हमें गांवों में भेजा और भारत के देहात नए कर्म-सिद्धांत के अनगिनत संदेशवाहकों के कार्य-कलाप से गूंज उठे। किसानों की आंखें खुल गईं और वे आलस्य को तिलांजलि दे बाहर निकलने लगे। हमपर कुछ और ही तरह का प्रभाव पड़ा गोकि वह भी उतना ही गहरा और व्यापक था। हमने, मानो अपने जीवन में पहली बार, गांववालों को पास से देखा कि मिट्टी की झोपड़ियों में सदा भूख की काली छाया उनका पीछा किस तरह किये रहती है। हमें अपने देश की आर्थिक स्थिति का ज्ञान पुस्तकों और विद्वत्तापूर्ण भाषणों से भी अधिक इन दौरों से हुआ। इस प्रकार हमें जो भावुकतापूर्ण अनुभूति हुई वह दिन-पर-दिन बढ़ती और पुष्ट होती गई और उसके बाद हमारे लिए अपने पुराने ढंग के जीवन या उसके पुराने स्तर पर जाने का कोई प्रश्न नहीं रह गया, चाहे उसके पश्चात् हमारे विचारों में कितना ही परिवर्तन क्यों न होता।

आर्थिक, सामाजिक और दूसरे मामलों में गांधीजी के विचार बड़े उग्र थे, किंतु उन्होंने कांग्रेस पर अपने सारे विचार लादने नहीं चाहे, यद्यपि वे उन्हें विकसित करते रहे और ऐसा करते समय कभी-कभी अपने लेखों द्वारा उनमें परिवर्तन भी

करते गये। फिर भी अपने कुछ विचारों को उन्होंने कांग्रेस में अवश्य घुसाना चाहा। इस दिशा में उन्होंने बड़ी सावधानी से कदम बढ़ाया, क्योंकि वे अपने साथ-साथ जनता को भी ले चलना चाहते थे। कभी-कभी वे इतने आगे बढ़ जाते थे कि कांग्रेस वहा तक नहीं पहुच पाती थी और इसलिए उन्हें पीछे लौटना पड़ता था। उनके विचारो को पूर्ण रूप से बहुत ही कम लोग मानते थे और कुछ लोग तो उनके आधारभूत दृष्टिकोण से असहमत भी थे। किंतु तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल बने रहने के लिए उनके विचार जिस संशोधित रूप में कांग्रेस के सामने आते थे उसे बहुत-से लोग स्वीकार कर लेते थे। दो बातों में उनके विचारो की पृष्ठभूमि का एक अनिश्चित किंतु पर्याप्त प्रभाव पड़ता था। हर बात की असली कसौटी यह थी कि उससे जनता को कितना लाभ पहुचता है। साधन को सदा महत्त्व दिया जाता था और साध्य चाहे कितना ही ठीक क्यों न हो, साधन की अवहेलना नहीं की जाती थी; क्योंकि साधन ही साध्य को सचालित और परिवर्तित करता था।

हिन्दू धर्म

गांधीजी प्रधानतः एक धार्मिक व्यक्ति थे। उनके अंग-अंग में हिंदुत्व भरा हुआ था। फिर भी उनकी धार्मिक विचारधारा का किसी मत या रीति-रिवाज से सम्बन्ध नहीं था।* उसका आधारभूत सम्बन्ध उनके नैतिक नियम में दृढ विश्वास

*जनवरी, १९२८, मे गाधीजी ने 'फेडरेशन आव इन्टरनेंशनल फेलोशिप्स' (अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री सघ) के समक्ष कहा था—"बहुत दिनो के अध्ययन और अनुभव के बाद मै इन निष्कर्षों पर पहुचा हूँ (१) सभी धर्म सत्य होते है, (२) सभी धर्मों मे कोई-न-कोई भूल या कमी अवश्य होती है, (३) सभी धर्म मेरे लिए लगभग उतने ही प्यारे है जितना मेरा अपना हिंदू धर्म। दूसरे धार्मिक विश्वासो के लिए भी मेरे मन में उतना ही सम्मान है, जितना अपने धार्मिक विश्वास के लिए। इसलिए धर्म परिवर्तन की कल्पना असभव है। औरो के लिए हमारी

से था, जिसे वह सत्य या प्रेम का नियम कहते हैं। उनकी दृष्टि में सत्य और अहिंसा एक ही वस्तु हैं या एक ही वस्तु के दो पहलू हैं, इसीलिए वे इन शब्दों का एक-दूसरे के लिए प्रयोग करते रहते हैं।

चूंकि गांधीजी हिंदू धर्म की आत्मा को समझने का दावा करते हैं, इसलिए वे उन सब बातों को अस्वीकार कर देते हैं जो उनकी हिंदू धर्म की आदर्शवादी व्याख्या से मेल नहीं खातीं। इन्हें वे क्षेपक या बाद की बढ़ाई हुई बातें कहकर पुकारते हैं। उन्होंने कहा है—"मैं किसी भी ऐसे पुराने विश्वास या प्रचलन का गुलाम बनने से इन्कार करता हूं जिसे मैं समझ नहीं सकता या जिसका मैं नैतिक आधार पर समर्थन नहीं कर सकता।" इसलिए व्यवहार में गांधीजी अपने चुने हुए मार्ग का अनुसरण करने, अपने को परिवर्तित कर परिस्थिति के अनुकूल बनाने और अपने जीवन तथा कर्म सम्बन्धी अध्यात्म का विकास करने में पूर्ण स्वतन्त्रता से काम लेते हैं।

ऐसा करते हुए यदि उन्हें किसी बात का ध्यान रहता है तो केवल नैतिक नियम का, जैसा कि वह उनकी समझ में होना चाहिए। इस अध्यात्म की शुद्धता-अशुद्धता पर विवाद हो सकता है, किंतु वह सभी बातों को—विशेषतः अपने को—एक ही आधारभूत मापदंड से नापने पर जोर देते हैं। इसके फलस्वरूप साधारण व्यक्ति के लिए राजनीति और जीवन के अन्य क्षेत्रों में कठिनाई और अक्सर भ्रम उत्पन्न हो जाता है। किंतु कठिनाइयां उन्हें अपने चुने हुए सीधे मार्ग पर चलने से विचलित नहीं करतीं, यद्यपि कुछ सीमा तक वह अपने को सदा परिवर्तन शील परिस्थिति के अनुकूल बनाते रहते हैं। वह दूसरों के लिए जो कुछ भी सुधार बताते

प्रार्थना यह नहीं होनी चाहिए कि हे प्रभु, जो प्रकाश तूने हमें दिखाया है वही उन्हें भी दिखा, बल्कि हमारी प्रार्थना यह होनी चाहिए कि हे प्रभु, उन्हें अपने उच्चतम विकास के लिए जितने भी प्रकाश और सत्य की आवश्यकता है वह सब तू उन्हें दे।"

है या वह दूसरो को जो कुछ भी सलाह देते है उसका फौरन अपनेआप पर प्रयोग करते है। वह सदा अपने से ही आरम्भ करते है और उनके वचन और कर्म सदा एक-दूसरे के अनुकूल होते है। यही कारण है कि कभी उनकी समग्रता नष्ट नही होती और उनके जीवन तथा कार्य मे सदा अभिन्नता रहती है। अपनी असफलता-ओ तक में वह उन्नति की ही ओर बढ़ते दिखाई देते है।

जिस भारत को वह अपनी इच्छा और आदर्श के अनुकूल बनाना चाहते है उसके सम्बन्ध में उनकी भावनाए क्या है ? उन्होने कहा है--"मै एक ऐसे भारत के लिए प्रयत्न करना चाहता हू, जिसमे निर्धन-से-निर्धन व्यक्ति भी यह अनुभव कर सकेंगे कि यह उनका अपना देश है, जिसके निर्माण मे उनकी भी सुनी जायगी, जिसमें ऊंच-नीच का भेदभाव नहीं होगा, जिसमें सभी जातिया पूर्ण सामंजस्य के साथ जीवनयापन करेंगी। ऐसे भारत में छुआछूत और मादक पदार्थों का शाप नही होगा, स्त्रियो को पुरुषो के ही समान अधिकार मिलेंगे...यह है वह भारत जिसके मै स्वप्न देखा करता हू।"

गाधीजी को हिंदू जाति में जन्म लेने का गर्व था। उन्होने हिंदू धर्म को एक प्रकार का विश्वव्यापक रूप देना चाहा और सत्य की सीमा मे सभी प्रकार के धर्मों को सम्मिलित कर लिया। उन्होने अपने पूर्वजो से पाई हुई सांस्कृतिक सम्पत्ति को संकुचित करना नहीं चाहा। उन्होने लिखा है--"भारतीय सस्कृति न तो पूर्ण रूप से हिंदू है, न मुस्लिम, न कोई और। वह इन सबका मेल है।" उन्होने यह भी कहा, "मै चाहता हू कि सभी देशो की सस्कृतियां मेरे घर के पास जितनी भी सभव हो उतनी स्वतंत्रता के साथ उड़ती रहे, किंतु मै इस बात के लिए तैयार नहीं कि उनमें से कोई मुझे उडा लेजाय। मै दूसरो के घर में बिना अधिकार प्रवेश करने-वाले व्यक्ति या भिखारी या दास के रूप मे रहने को तैयार नहीं।" आधुनिक विचार-धाराओ में पड़कर गाधीजी ने कभी भी अपनी जड़ो को हिलने नहीं दिया और उन्हें मजबूती के साथ पकड़े रखा।

आत्मिक एकता

इसलिए उन्होंने लोगों की आत्मिक एकता को पुनः स्थापित करने, पश्चिमी रंग में रंगे हुए उच्च स्तर के लोगों और जनता के बीच की दीवार को गिराने, पुरानी जड़ों के सजीव तत्त्वों को ढूंढ़कर उन्हें शक्तिशाली बनाने और जनता को उसकी मूर्छा तथा अवरुद्ध अवस्था से निकाल कर कर्मठ बनाने का कार्य आरम्भ किया। उनके एकमुखी मार्ग और बहिर्मुखी स्वभाव को देखकर लोगों की जो खास धारणा होती थी वह यह थी कि उन्होंने अपने को जनता में लीन कर दिया है, उसकी आत्मा के साथ अपनी आत्मा को मिला दिया है और केवल भारत ही नहीं, बल्कि समस्त संसार के असहायों और निर्धनों के साथ तादात्म्य की उनमें एक आश्चर्यजनक भावना है। पददलितों के उत्थान की उनमें जो उत्कट अभिलाषा थी उसके सामने उनके लिए धर्म तक गौण बन जाता था। "जिस देश के लोग अधभूखे हों उसका न कोई धर्म हो सकता है, न कोई कला, न कोई संगठन।" "जो भी चीज भूखों मरती हुई लाखों जनता के लिए उपयोगी हो सकती है, वही मेरी दृष्टि में सुन्दर है। उन्हें हमें पहले जीवनकी सबसे आवश्यक चीजें देनी चाहिए, फिर तो जीवन की सब शोभाएं और अलंकार बाद में आ ही जाएंगे।"...... "मैं ऐसी कला और ऐसा साहित्य चाहता हूं जो लाखों से बोल सके।" ये लाखों असहाय और अभागे सदा उनके मस्तक में चक्कर काटते रहते थे और ऐसा लगता था जैसे उनकी सारी विचारधारा उन्हीं के चारों ओर घूमती रहती है। "लाखों के सामने दो ही विकल्प हैं—या तो निरन्तर चौकीदारी या चिरनिद्रा।" वह कहते थे कि मेरी आकांक्षा "हर आंख से हर आंसू को पोंछ डालना है।"

इसमें कोई ताज्जुब नहीं कि इस आश्चर्यजनक जीवनी-शक्तिवाले व्यक्ति में, जो आत्म-विश्वास और असाधारण ढंग के बल से ओतप्रोत था, और जो प्रत्येक व्यक्ति की समानता तथा स्वाधीनता का हामी था और जो इन सब बातों को

निर्धन-से-निर्धन व्यक्ति की दृष्टि से देखता था, भारत के जनसाधारण को मुग्ध कर लिया और उन्हें एक चुम्बक की तरह अपनी ओर खींच लिया। लोगों को ऐसा लगता था जैसे यह व्यक्ति भूत और भविष्य को जोड़नेवाली एक कड़ी है और उसने नीरस वर्तमान को भावी जीवन और आशाओं तक पहुंचने की सीढ़ी बना दिया है। ऐसा केवल जनता को ही नहीं लगा, बल्कि सुशिक्षित विद्वानों और दूसरे लोगों को भी अनुभव होता था—यद्यपि उनके चित्त सदा चिंता और भ्रम से भरे रहते थे और उन्हें जन्म-जन्मान्तर की चली आई परम्पराओं को छोड़ना अधिक कठिन था। इस प्रकार उन्होंने केवल अपने अनुयायियों में ही नहीं, बल्कि अपने विरोधियों और उन तटस्थ लोगों में भी, जो यह निश्चय ही नहीं कर पाते थे कि उन्हें क्या सोचना और क्या करना है, एक जबरदस्त मनोवैज्ञानिक क्रांति उत्पन्न कर दी।

कांग्रेस पर गांधीजी का प्रभुत्व था और वह एक विचित्र प्रकार का प्रभुत्व था, क्योंकि कांग्रेस एक क्रियाशील, विद्रोही और बहिर्मुखी संस्था थी, जिसमें जुदे-जुदे मत के लोग थे और जिसे इधर या उधर ले जाना आसान नहीं था। अक्सर गांधीजी दूसरों की इच्छाएं पूरी करने के लिए अपना आग्रह कम कर देते थे, और कभी-कभी तो प्रतिकूल निर्णय भी स्वीकार कर लेते थे। किसी-किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर वे टस-से-मस नहीं होते थे और अक्सर उनमें और कांग्रेस में मतभेद हो जाता था। फिर भी वे सदा भारत की स्वतन्त्रता और संघर्षशील राष्ट्रीयता के प्रतीक थे और जो लोग मातृभूमि को दास बनाये रखने की चेष्टा करते थे उनके वे कट्टर विरोधी थे। इसी प्रतीक के रूप में जनता दूसरी बातों में असहमत होती हुई भी उन्हें घेरे रहती थी और उनका नेतृत्व स्वीकार करती थी। जब कोई क्रियात्मक संघर्ष नहीं चलता होता था तब तो कभी-कभी लोग उनका नेतृत्व स्वीकार नहीं करते थे, किंतु जब संघर्ष अनिवार्य हो जाता था तब सबसे अधिक महत्ता उन्हें ही दी जाने लगती थी और अन्य बातें गौण बन जाती थीं।

जन-आंदोलन

स्मरण रहे कि भारत का राष्ट्रीय आंदोलन, अन्य सभी राष्ट्रीय आंदोलनों की भांति, धनिक वर्ग का आंदोलन था। वह उन्नति के एक, स्वाभाविक और ऐतिहासिक क्रम का द्योतक था और उसे मजदूर-वर्ग का आंदोलन कहना या इस नाम से उसकी आलोचना करना ठीक नही। गांधीजी इस आंदोलन का और उससे संबंधित भारतीय जनता का बड़े ही उत्तम प्रकार से प्रतिनिधित्व करते थे और इस दृष्टिकोण से वह जनसाधारण की आवाज बन गये थे। वह सदा अपने को राष्ट्रीय विचार धारा की सीमा के भीतर रखकर ही कार्य किया करते थे, किंतु जो आग उनके अन्तरतम में हर समय जलती रहती थी वह थी जनता को ऊंचा उठाने की आकांक्षा। इस दृष्टि से वह सदा राष्ट्रीय आंदोलन से आगे रहे और उसे उन्होने धीरे-धीरे—स्वयं उसी की विचारधारा की सीमा के भीतर—इस नई दिशा में मोड़ा। अकेले भारत ही नहीं, बल्कि समस्त संसार की आर्थिक घटनाओ ने बड़े जोरों से भारतीय राष्ट्रीयता को महत्त्वपूर्ण सामाजिक सुधारो की ओर ढकेला और आज वह एक नई सामाजिक विचारधारा के तट पर कुछ-कुछ अनिश्चित-सी खड़ी है।

किंतु गांधीजी ने भारत और भारतीय जनता को जो कुछ मुख्य रूप से दिया वह कांग्रेस के जरिये शक्तिशाली आंदोलन चलाकर ही दिया। देशव्यापी कार्रवाई द्वारा उन्होंने लाखों को नए सांचे में ढालना चाहा और इस कार्य में उन्हे बड़ी सफलता मिली। उन्होने पतित, कायर और निराश जनताको, जिसे अपनी-अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए सभी प्रमुख दल पीड़ित और पददलित करते आये थे और जिनमें विरोध की शक्ति ही नहीं रह गई थी, ऐसा बना दिया जिसम आत्म-सम्मान की भावना जाग उठी, जिसे अपने पर भरोसा होने लगा, जो अत्याचार का विरोध करने लगी और जिसमें मिलकर काम करने तथा एक बड़े हित के लिए त्याग करने की सामर्थ्य आ गई। उन्होने उसे इस योग्य बना दिया कि वह राज-

नैतिक और आर्थिक समस्याओं पर विचार कर सके, यहां तक कि गांव-गांव और बाजार-बाजार में इस नई विचारधाराओ और आशाओं की चर्चाएं होने लगीं। यह एक आश्चर्यजनक मनोवैज्ञानिक परिवर्तन था। इसके लिए समय भी अनुकूल था और परिस्थितियों तथा विश्व की घटनाओं ने इस परिवर्तन को लाने में योग दिया। किंतु परिस्थितियों से लाभ उठाने के लिए एक महान् नेता की आवश्यकता होती है। वह नेता हमें गांधीजी के रूप में मिला, जिसने हमें उन अनेक बन्धनों से मुक्त कर दिया जिन्होंने हमें जकड़ रखा था और हमारे मस्तिष्क को निरर्थक बना दिया था। भारतीय जनता के हृदय पर छा जाने वाली मुक्ति और हर्ष की उस महान् अनुभूति को हममें से जिन लोगों ने भी महसूस किया वे उसे कदापि नहीं भूल सकते। गांधीजी ने भारत के उत्थान में एक बड़ा ही महत्वपूर्ण क्रांतिकारी भाग लिया, क्योंकि उन्हें पराधीन परिस्थितियों से अधिक-से-अधिक लाभ उठाना आता था और वे जनता के हृदय को छू सकते थे। इसके विपरीत बहुत-से अधिक उन्नत विचारवाले दल यों ही लटकते रह गये, क्योंकि वे अपने को परिस्थितियो के अनुकूल नहीं बना सके और इसलिए जनसाधारण में ठोस सहयोग की भावना जाग्रत नहीं कर सके।

जनता का उत्थान

यह बिलकुल सत्य है कि राष्ट्रीय क्षेत्र के धरातल पर कार्य करते समय गांधीजी वर्ग-संघर्ष के दृष्टिकोण से कुछ नहीं सोचते, बल्कि वर्गीय मतभेदों को दूर करने का ही प्रयत्न करते हैं। किंतु उन्होंने जो कुछ भी किया और जनता को सिखाया है उससे सदा ही बड़ी जबर्दस्त जन-जाग्रति हुई है और सामाजिक समस्याओं को महत्ता मिली है। इसके अलावा उन्होंने जरूरत पड़ने पर कुछ विशेष वर्गों को नुकसान पहुंचाकर भी जनता को ऊपर उठाने पर बार-बार जो जोर दिया, उससे राष्ट्रीय आंदोलन में जन-पक्ष में एक जबरदस्त परिवर्तन हुआ।

निश्चय ही गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस साम्राज्यवाद के विरोध में एक संयुक्त मोर्चे का काम करती रही है ।

गांधीजी और कांग्रेस का मूल्य उनके द्वारा अपनाई जाने वाली नीतियों और किये जाने वाले कार्य के आधार पर ही आंका जाना चाहिए। किंतु इसमें व्यक्तित्व काम करता है और इन नीतियों तथा कामों को अपने रंग में रंग देता है। जहां तक गांधीजी जैसे अत्यंत विशिष्ट व्यक्ति का सवाल है, उन्हें समझने और उनका मूल्य आंकने के लिए व्यक्तित्व का प्रश्न विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हो जाता है। अंग्रेज पत्रकार श्री जार्ज स्लोकम्ब ने, जिन्हें सार्वजनिक क्षेत्र में कार्य करने वाले संसार भर के साधारण और असाधारण व्यक्तियों का अनुभव है, अपनी एक नई पुस्तक में गांधीजी का उल्लेख किया है। वह प्रकरण रोचक और उद्धृत करने योग्य है। उसमें लिखा है—"इतना ज्यादा ईमानदार और सच्चा आदमी मैंने अपने जीवन में कभी नहीं देखा। आत्म-प्रशंसा, अहंकार, अवसरवादिता और महत्त्वाकांक्षा की ओर उसका बहुत ही कम झुकाव है, यद्यपि ये बातें अधिक या कम मात्रा में इस संसार के अन्य सभी महान् राजनैतिक व्यक्तियों में पाई जाती हैं।"—हमें किसी अंग्रेज पत्रकार के मत से अधिक प्रभावित होने की जरूरत नहीं और न किसी के हृदय की सचाई के बल पर उसकी अशुद्ध नीति या भ्रमपूर्ण विचारों का ही समर्थन किया जा सकता है; किंतु स्थिति यह है कि यही मत भारत के लाखों व्यक्तियों का है। जो शब्द बिना सोचे-समझे सभी साधारण राजनीतिज्ञों के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं, उन्हीं शब्दों में गांधीजी जैसे अनोखे और अद्वितीय व्यक्तित्व का उल्लेख करना एक बड़ी ही ऊपरी आलोचना है। हम भारतीयों का गांधीजी से अक्सर मतभेद रहा है, अब भी कई बातों में हम उनसे सहमत नहीं होते और कभी-कभी पृथक् मार्ग भी ग्रहण कर लेते हैं, किंतु उनके साथ और उनकी अधीनता में रहकर एक महान् हित के लिए कार्य करना हमारे जीवन का सबसे बड़ा सौभाग्य रहा है। हमारे लिए वह भारत की आत्मा और मर्यादा के प्रतीक रहे हैं, लाखों

संतप्तों की अपने अनगिनत बोझों से मुक्त होने की लालसा की प्रतिमूर्ति रहे हैं और ब्रिटिश सरकार या किसी और के द्वारा उनका अपमान किया जाना मानो भारत और भारतीय जनता का अपमान रहा है।

विश्व-संघ

गांधीजी ने हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को एक नई दिशा दिखाई जिससे हमारी निराशा और कटुता की भावनाएं कम हो गईं। ये भावनाएं बिलकुल समाप्त तो नहीं हुईं, लेकिन मेरी जानकारी में ऐसा कोई दूसरा राष्ट्रीय आंदोलन नहीं जो घृणा से इतना मुक्त रहा हो जितना कि हमारा राष्ट्रीय आंदोलन रहा है। गांधीजी कट्टर राष्ट्रवादी थे, पर साथ ही वह यह भी महसूस करते थे कि उन्हें भारत ही नहीं, बल्कि सारे संसार को संदेश देना है। उन्हे विश्व-शांति की बड़ी उत्कट अभिलाषा थी। इसलिए उनकी राष्ट्रीयता में एक प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण था। वह राष्ट्रीयता आक्रमणकारी लालसा से पूरी तरह से मुक्त थी। भारत की स्वतन्त्रता के आकांक्षी होने के कारण गांधीजी को यह विश्वास हो गया था कि एक-दूसरे पर निर्भर रहने वाले राष्ट्रों का विश्व-संघ ही एक-मात्र सच्चा उद्देश्य है, चाहे वह कितना ही दूर क्यों न हो। उन्होंने कहा था—"राष्ट्रीयता के संबंध में मेरा विचार यह है कि मेरा देश स्वतन्त्र हो जाय, लेकिन अगर जरूरत पड़े तो मानव-जाति को जीवित रखने के लिए वह सारा-का-सारा नष्ट हो जाय। इसमें जातीय घृणा को कोई स्थान नहीं। हमारी राष्ट्रीयता ऐसी ही होनी चाहिए।" और—"मैं सारे विश्व के दृष्टिकोण से सोचना चाहता हूं। मेरे देश-प्रेम में साधारण रूप से सारी मानव—जाति का हित सम्मिलित है। इसलिए भारत के प्रति मेरी सेवा में मानव-जाति की सेवा शामिल है। .... विश्व-राज्यों का लक्ष्य पृथक स्वतन्त्रता नहीं, बल्कि स्वेच्छित अन्तर-निर्भरता है। संसार के उन्नत विचारवाले लोग आज एक-दूसरे से लड़ने वाले पूर्णतः स्वतन्त्र

राष्ट्रों की इच्छा नहीं रखते, बल्कि मित्रतापूर्ण और एक-दूसरे पर निर्भर राज्यों का संघ चाहते हैं। हो सकता है कि इस आकांक्षा की पूर्ति अभी दूर हो। मैं अपने देश के लिए कोई बहुत बड़ा दावा नहीं करना चाहता, किंतु स्वतन्त्रता के बदले अन्तर्राष्ट्रीय अन्तर्-निर्भरता का समर्थन करना मेरी समझ में कोई बड़ा अथवा असम्भव कार्य नहीं। मैं चाहता हूं कि हममें पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होने की योग्यता तो हो, लेकिन उसकी डींग हांकने की नहीं।"

: २ :

तनातनी का वर्ष

सन् १९२१ का साल बड़ी ही तनातनी का साल था और अफसरों को क्रोधित, परेशान और विचलित करने की बहुत-सी बातें हुईं। जो कुछ हो रहा था वह तो बुरा था ही, जो कुछ सोचा जा रहा था वह उससे भी बुरा था। मुझे एक उदाहरण याद है जिससे इस मानसिक उपद्रव का प्रमाण मिलता है। मेरी बहन स्वरूप[1] की शादी के लिए १० मई, १९२१ की तारीख तै की गई थी। यह शादी इलाहाबाद में होने वाली थी, और जैसा कि ऐसे अवसरों पर हुआ करता है, उसकी ठीक-ठीक तारीख पत्रा से हिसाब लगाकर निश्चित की गई थी और दिन भी शुभ छांटा गया था। गांधीजी और बहुत-से दूसरे प्रमुख कांग्रेसी, जिनमें अली बन्धु भी शामिल थे, इस अवसर पर निमन्त्रित किए गए थे और उनकी सुविधा के लिए उन्हीं दिनों कांग्रेस कार्यसमिति की एक बैठक भी इलाहाबाद में बुला ली गई थी। स्थानीय कांग्रेसियों ने बाहर से आने वाले प्रसिद्ध नेताओं की उपस्थिति से लाभ उठाना चाहा और बड़े पैमाने पर एक जिला कांफ्रेंस का आयोजन किया। उन्हें आशा थी कि आसपास के किसान उसमें भाग लेने के लिए बहुत बड़ी संख्या में आयगे।

इन राजनैतिक सभाओं की वजह से इलाहाबाद में बड़ी चहल-पहल और उत्तेजना फैली हुई थी। कुछ लोगों के स्नायु पर तो इसका उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा। एक दिन मुझे अपने एक बैरिस्टर मित्र से पता चला कि अंग्रेज लोग बिल-

[1] श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित

कुछ घबरा गए हैं और वे शहर में एक आकस्मिक उपद्रव की आशंका कर रहे हैं। उन्हें अपने भारतीय नौकरों पर विश्वास नहीं होता था और वे अपनी जेबों में रिवाल्वर लिये फिरते थे। प्राइवेट तौर पर तो यहां तक कहा जाता था कि इलाहाबाद के किले को इस बात के लिए तैयार रखा गया है कि जरूरत पड़ने पर अंग्रेज लोग भागकर वहां चले जायें। मुझे बड़ा ताज्जुब हुआ और मैं समझ नहीं सका कि किसी को इलाहाबाद जैसे सुप्त और शांत शहर में एकाएक उपद्रव की संभावना की कल्पना क्यों हुई और वह भी एक ऐसे समय में जब कि अहिंसा का देवदूत ही वहां आने वाला था! कहा जाता था कि १० मई—जो कि संयोग-वश मेरी बहन की शादी के लिए तै हुई थी—सन् १८५७ में मेरठ में आरंभ हुए गदर की वार्षिक तिथि है और वह इलाहाबाद में मनाई जाएगी।

धर्म पर जोर

गांधीजी सदा राष्ट्रीय आंदोलन के धार्मिक और आध्यात्मिक पहलू पर जोर दिया करते थे। उनका धर्म कोई कट्टरपंथी धर्म नहीं था, फिर भी उसमें जीवन के प्रति एक निश्चित धार्मिक दृष्टिकोण का निर्देश अवश्य था। इसका सारे आंदोलन पर बड़ा गहरा असर पड़ा और जहां तक जनता का सवाल है उसने एक सजीव आंदोलन का रूप धारण कर लिया। स्वभावतः कांग्रेस के अधिकांश कार्य-कर्ताओं ने अपने को अपने नेता के सांचे में ढालने की चेष्टा की और उनके शब्दों तक को दुहराया। फिर भी कार्य समिति में गांधीजी के मुख्य-मुख्य साथी—मेरे पिता, देशबन्धु दास, लाला लाजपतराय और दूसरे लोग—साधारण अर्थ में धार्मिक पुरुष नहीं थे और वे राजनैतिक प्रश्नों का राजनैतिक धरातल पर ही विचार किया करते थे। अपने सार्वजनिक भाषणों में वे धर्म को नहीं लपेटते थे, किंतु वे जो कुछ भी करते थे उसका जनता पर उनके द्वारा उपस्थित किये गये निजी उदाहरण की तुलना में बहुत ही कम प्रभाव पड़ता था। यह संसार जिन चीजों को बहुमूल्य सम-

झता है उनमें से बहुतों का परित्याग करके उन्होंने सरल जीवन को अपनाया था। उनका यह कार्य ही धर्म की निशानी माना जाता था और उससे पुनरुज्जीवन का वातावरण उपस्थित करने में सहायता मिली।

हिंदुओं और मुसलमानों दोनो की ओर से राजनीति में इस प्रकार के धार्मिक तत्त्व का विकास होते देख मुझे दुःख हुआ करता था। मुझे यह बिलकुल पसन्द नहीं था। मौलवी, मौलाना, स्वामी और ऐसे ही दूसरे लोग अपने सार्वजनिक भाषणों में जो कुछ कहा करते थे उसमें से अधिकांश मुझे बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण प्रतीत होता था। उनका इतिहास, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र सब कुछ मुझे गलत मालूम होता था और हर बात को घुमा-फिरा कर धर्म के रंग में रंगने का जो प्रयत्न किया जाता था उसके कारण साफ-साफ सोच सकना असंभव हो जाता था। कभी-कभी तो गांधीजी के भी कुछ शब्द मुझे बुरे लगते थे, जैसा कि उनका बार-बार रामराज्य का उल्लेख करना और कहना कि वह सुनहरा युग फिर आने वाला है। किंतु मुझमें हस्तक्षेप करने की शक्ति नहीं थी और मैं यह सोचकर अपने मन को समझा लिया करता था कि गांधीजी इन शब्दो का प्रयोग इसलिए करते हैं कि जनता उन्हें अच्छी तरह से जानती और समझती है। जनता के हृदय तक पहुंचने की उनमें आश्चर्यजनक योग्यता थी।

लेकिन मैं इन बातो की अधिक चिंता नहीं किया करता था। मेरे पास अपना ही काम इतना ज्यादा था और आंदोलन की उन्नति की इतनी चिंता रहती थी कि इन छोटी-मोटी बातों की ओर ध्यान देने का समय ही नहीं मिलता था—उन दिनों मैं इन्हें छोटी बातें ही समझा करता था। हमारे बड़े आंदोलन में सभी तरह के लोग थे और जब तक हमारे कार्य की मुख्य दिशा ठीक थी तब तक छोटी-मोटी विपरीत धाराओं से कुछ बनता-बिगड़ता नहीं था। जहां तक स्वयं गांधीजी का प्रश्न है, उन्हें समझना बड़ा कठिन था। कभी-कभी उनकी भाषा आज कल के एक साधारण व्यक्ति के लिए प्रायः पूर्णतः अग्राह्य होती थी, किन्तु हम यह

अनुभव करते थे कि हम उन्हे इतनी अच्छी तरह जानते हैं कि इस बात को समझ सकते हैं कि वह एक महान् व निराले पुरुष व कीर्तिवान् नेता हैं। इस प्रकार गाधीजी पर विश्वास कर हमने अपनी ओर से उन्हे, कम-से-कम उस समय के लिए सफेद-स्याह करने का पूरा अधिकार दिया था। अक्सर हम उनकी झक और विचित्रताओ पर अपने आप में बहस किया करते थे, और हंसी-हंसी में कहा करते थे कि स्वराज्य मिलने पर उनकी इन झको को प्रोत्साहन नहीं मिलना चाहिए।

फिर भी हममें से बहुत से लोग राजनैतिक और दूसरे मामलो में उनसे इतने अधिक प्रभावित थे कि धार्मिक क्षेत्र में भी उस प्रभाव से पूरी तरह से बच नहीं सकते थे। जहां कि प्रत्यक्ष रूप से आक्रमण करने में सफलता नहीं मिल सकती थी वहा बहुत-सी परोक्ष युक्तियो से हमारी रक्षा-शक्ति कमजोर बना दी गई थी। धर्म के दिखावटी तरीके मुझे प्रभावित नहीं करते थे और तथाकथित धर्मात्माओ द्वारा जनता का शोषण मुझे बिलकुल पसन्द नहीं आता था, फिर भी मैं उसकी ओर थोड़ा बहुत झुक ही गया। धार्मिक प्रवृत्ति के जितना निकट मैं सन् १९२१ में पहुंच गया था उतना अपने बचपन से लेकर अब तक कभी नहीं पहुंचा था। फिर भी मैं उसके बहुत निकट नहीं गया।

नीतिपूर्ण राजनीति

जो बात मुझे अच्छी लगती थी वह थी हमारे आंदोलन और सत्याग्रह की नैतिक दिशा। मैंने अहिंसा के सिद्धात की पूरी-पूरी अधीनता नहीं मानी और न उसे सदा के लिए स्वीकार ही किया, किंतु मैं उसकी ओर दिन-पर-दिन अधिक आकर्षित होता गया और मेरे मन में यह विश्वास जड़ पकड़ता गया कि अपनी परिस्थिति, पृष्ठभूमि और परम्पराओ के कारण हम भारतीयों के लिए यही ठीक नीति है। राजनीति के आध्यात्मीकरण का विचार मुझे बड़ा सुन्दर प्रतीत हुआ। यहां आध्यात्मीकरण से मेरा अभिप्राय उसके संकीर्ण धार्मिक अर्थ से नहीं है।

एक योग्य साध्य तक पहुंचने के साधन भी योग्य होने चाहिए। यह बात एक श्रेष्ठ नैतिक सिद्धांत ही नहीं, बल्कि एक स्वस्थ व्यावहारिक राजनीति मालूम पड़ती थी, क्योंकि जो साधन अच्छे नहीं होते वे अक्सर साध्य का ही अंत कर देते हैं और उससे नई समस्याएं तथा कठिनाइयां उठ खड़ी होती हैं। और फिर, ऐसे साधनों को अंगीकार करना, जो कीचड़ में से होकर गुजरने के समान है, व्यक्ति या राष्ट्र के आत्मसम्मान के लिए बड़ा अशोभनीय और अपमानजनक मालूम होता है। हम उसके दूषित प्रभाव से किस तरह बच सकते हैं? यदि हम झुक कर या रेंग कर चलते हैं तो हमारे लिए तेजी से और मर्यादा के साथ चलना कैसे संभव हो सकता है?

उस समय मेरे विचार ऐसे ही थे और असहयोग आंदोलन ने मुझे वे ही चीजें दीं जो मैं चाहता था—अर्थात् राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का लक्ष्य और (जैसा कि मैं समझता था) पददलितों के शोषण का अन्त। साथ ही उसने मुझे एक ऐसा साधन प्रदान किया जिससे मेरी नैतिक जिज्ञासा शांत हो गई और मुझे एक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की अनुभूति हुई। यह व्यक्तिगत संतोष इतना जबरदस्त था कि उसके सामने असफलता की संभावना तक नगण्य प्रतीत हुई, क्योंकि इस तरह की असफलता अस्थाई हो सकती थी। मैं भगवद्गीता के दार्शनिक अंग को नहीं समझ पाता था और न उसकी ओर आकृष्ट ही होता था, किंतु मैं उसके उन श्लोकों को पढ़ना पसन्द करता था जो कि गांधीजी के आश्रम में सायंकालीन प्रार्थना में रोज पढ़े जाते थे और जिनमें बताया गया है कि मनुष्य को अपने उद्देश्य में शांत, प्रसन्नचित्त और दृढ़ रहते हुए कर्तव्य का पालन करते रहना चाहिए और उसके परिणाम की अधिक चिंता नहीं करनी चाहिए। चूंकि मैं स्वयं बहुत शांत और विरक्त नहीं था, इसलिए मैं समझता हूं कि वह आदर्श मुझे और भी भाया।

थोड़ी घृणा

सन् १९२१ हमारे लिए एक अद्वितीय साल था। राष्ट्रीयता के साथ राज-

नीति का और धर्म के साथ रहस्यवाद और धार्मिक उन्माद का एक विचित्र मेल चल रहा था। इन सबकी जड़ में गावों की अशांति और बड़े शहरों में निद्रित अवस्था से जागते हुए मजदूरो का आंदोलन था। राष्ट्रीयता और सारे देश में फैली हुई एक अनिश्चित किंतु तीव्र आदर्शवाद की लहर इन भिन्न-भिन्न—और कभी-कभी एक दूसरे के विरोधी—असंतुष्ट तत्त्वो को एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न कर रही थी और इसमें उसे जबरदस्त कामयाबी भी हासिल हुई। इतने पर भी यह राष्ट्रीयता स्वयं एक मिश्रित प्रेरणा थी और उसमें तीन तरह की राष्ट्रीय धाराएं साफ-साफ बहती दिखाई दे रही थीं—एक हिन्दू राष्ट्रीयता, दूसरी मुस्लिम राष्ट्रीयता, जिसकी दृष्टि कुछ हद तक भारतीय सीमाओं के उस पार लगी हुई थी और तीसरी भारतीय राष्ट्रीयता, जो उस समय की विचारधारा के अधिक अनुकूल थी। कुछ समय के लिए तो वे सब एक दूसरे में मिल गई थीं और साथ-साथ जोर लगा रही थीं। सब जगह हिंदू-मुसलमान की जय" सुनाई देती थी। यह एक अदभुत बात थी कि गांधीजी ने मानों सभी श्रेणियों के और समूहो के लोगो पर एक मन्त्र-सा डाल दिया था और उन्हे एक ही दिशा में आगे बढ़ने के लिए संघर्ष करती हुई एक सामूहिक भीड़ मे ला खड़ा किया था। यदि मै एक दूसरे नेता के लिए प्रयोग में लाए गए शब्दो का उल्लेख करूं तो कह सकता हूं कि गांधीजी "जन साधारण की भ्रमित आकांक्षाओं की एक सांकेतिक अभिव्यक्ति बन गये थे।"

इससे भी ज्यादा मार्के की बात यह थी कि जिन विदेशी शासकों के विरुद्ध ये आकांक्षायें और उत्कठाएं निर्देशित थीं,उनके प्रति उनमें घृणा की मात्रा अपेक्षाकृत बहुत ही कम थी। निश्चय ही राष्ट्रीयता एक विरोधी भावना है और वह दूसरे राष्ट्रीय समूहो—खास तौर से एक गुलाम देश के विदेशी शासकों—के प्रति घृणा और क्रोध का पोषण करके ही फूलती-फलती है। सन् १९२१ में भारतवासियों के हृदय में अंग्रेजो के विरुद्ध घृणा और क्रोध की यह भावना अवश्य थी, किंतु ऐसी ही स्थिति वाले दूसरे देशों की तुलना में वह बहुत ही कम थी।

निश्चय ही यह गांधीजी के बराबर अहिंसा पर जोर देने के कारण था। इसकी एक दूसरी वजह मुक्ति और शक्ति की वह भावना भी थी जो असहयोग आंदोलन के आरंभ होने से सारे देश में आ गई थी। उसके साथ ही निकट भविष्य में ही उसके सफल होने का व्यापक विश्वास भी था। हम सोचते थे कि जब हमें इतनी सफलता मिल रही है और जल्दी ही विजयी होने की आशा है तो क्रोध क्यों करें और अपने हृदय में घृणा को स्थान क्यों दें ? हमने यह अनुभव किया कि हम दयालुता दिखला सकते हैं।

इतनी दयालुता हमारे हृदय में उन इने-गिने अपने ही भाई-बन्धुओं के लिए नहीं थी जो हमारे विपक्ष में थे और राष्ट्रीय आंदोलन का विरोध करते थे, यद्यपि उनके प्रति भी हमारा काम सावधानीपूर्ण और उचित ही था। सच पूछिये तो उनसे घृणा और क्रोध करने का कोई प्रश्न ही नहीं था, क्योंकि वे बिलकुल प्रभाव-शून्य थे और हम उनकी उपेक्षा कर सकते थे। फिर भी उनकी कमजोरी, अवसरवादिता और राष्ट्र की मर्यादा व आत्म-सम्मान के साथ धोखा करने के कारण उनके लिए हमारे अन्तः-प्रदेश में घृणा भरी हुई थी।

इस प्रकार हम अपने कार्य के उत्साह में भरकर अनिश्चित ढंग से किंतु दृढ़तापूर्वक चलते रहे, पर हमारे लक्ष्य के संबंध में कोई भी स्पष्ट विचारधारा नहीं थी। अब हमें यह सोचकर आश्चर्य होता है कि हमने सैद्धांतिक पहलुओं को—अर्थात् अपने आंदोलन के आध्यात्मिक और निश्चित लक्ष्य को—किस तरह बिलकुल भुला दिया था। यह तो ठीक है कि 'स्वराज्य' के संबंध में हम सब बड़ी ऊंची-ऊंची बातें करते थे, किंतु हममें से प्रत्येक व्यक्ति इस शब्द की अपनी व्याख्या अलग-अलग करता था। अधिकांश नवयुवकों के लिए स्वराज्य का अर्थ था राजनैतिक स्वतन्त्रता (या कुछ ऐसी ही चीज) और जनतन्त्रीय शासन-प्रणाली। यह बात हम अपने सार्वजनिक भाषणों में कहा भी करते थे। हममें से बहुत से लोग तो यहां तक सोचते थे कि इससे मजदूरों और किसानों पर से वह बोझ अवश्य

उतर जायेगा जिसके नीचे आज वे दबे हुए हैं। किंतु यह स्पष्ट था कि अधिकांश नेताओं की दृष्टि में स्वराज्य का अर्थ स्वतन्त्रता से बहुत कम था। इस विषय में गांधीजी के विचार भी कुछ अजीब अनिश्चित-से थे और वे इस दिशा में स्पष्ट चिंतन को प्रोत्साहन भी नहीं देते थे। फिर भी वह सदा पददलितों की ओर से—अनिश्चित रूप से, किंतु दृढ़तापूर्वक—बोला करते थे जिससे हममें से बहुतों को बड़ा संतोष होता था। लेकिन गांधीजी सदा उच्च श्रेणी के लोगों को भी आश्वासन दिया करते थे। वह कभी किसी समस्या पर बौद्धिक दृष्टिकोण से विचार करने की आवश्यकता पर जोर नहीं देते थे, बल्कि सदा चरित्र और पवित्रता की महिमा गाया करते थे। भारतीय जनता की रीढ़ की हड्डी को शक्ति प्रदान करने और उसे चरित्रवान बनाने में उन्हें निस्संदेह भारी सफलता मिली।

जनता में इस आश्चर्यजनक उत्थान ने ही हममें विश्वास की भावना भरी। भ्रष्ट, पिछड़ी हुई और निराश जनता ने एकाएक अपनी पीठ सीधी की, अपना सिर ऊपर उठाया और वह एक देशव्यापी अनुशासित तथा संयुक्त आंदोलन में भाग लेने लगी। हमें ऐसा लगा कि अकेला यही काम जनता में अबाध शक्ति भर देगा। हमने इस बात की चिंता नहीं की कि कार्य के पीछे विचारशक्ति भी होनी चाहिए, हम यह भूल गये कि चेतनापूर्ण विचारधारा और लक्ष के बिना जनता की शक्ति और उत्साह का अंत में अधिकतः ह्रास हो जाता है। कुछ सीमा तक हम अपने आंदोलन की सजीव भावना के सहारे चलते रहे। हममें यह धारणा बंध गई कि राजनैतिक या आर्थिक आंदोलनों को चलाने या अन्याय को दूर करने के लिए अहिंसा की जो कल्पना की गई है उसमें एक नया संदेश है जिसे संसार के कोने-कोने तक पहुंचाने का सौभाग्य हमारी जनता को मिलता है। सभी लोगों और सभी राष्ट्रों में यह जो विचित्र भ्रम होता है कि वे किसी-न-किसी रूप में इस संसार के चुने हुए व्यक्ति हैं, उसी भ्रम के हम भी शिकार बन गये। अहिंसा-युद्ध और सभी प्रकार के हिंसात्मक संघर्ष का नैतिक पर्यायवाची था। वह केवल नैतिक ही नहीं,

बल्कि प्रभावकारी भी था। मैं समझता हूं कि गांधीजी के मशीन और आधुनिक सभ्यता संबंधी पुराने विचारों को हममें से बहुत ही कम लोगों ने स्वीकार किया। हम सोचते थे कि वह खुद भी इन विचारों को पुराने और आधुनिक स्थितियों के अयोग्य समझते थे। निस्संदेह हममेंसे अधिकांश लोग आधुनिक सभ्यता की सफलताओं को अस्वीकार करने को तैयार नहीं थे, चाहे हमने यह क्यो न अनुभव किया हो कि उन्हे भारतीय परिस्थिति के अनुकूल बनाने के लिए थोड़ा-बहुत परिवर्तन संभव है। व्यक्तिगत रूप से मुझे बड़ी-बड़ी मशीनो और तेज यात्रा में सदा ही एक आकर्षण का अनुभव होता रहा है। फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि गांधीजी की विचारधारा का बहुतो पर प्रभाव पड़ा और वे लोग मशीन युग तथा उसके समस्त परिणामो के आलोचक बन गये। इस प्रकार जहां कुछ लोग भविष्य की ओर देखते थे वहां कुछ अतीत की ओर देखने लगे और आश्चर्य की बात यह कि दोनों ही यह अनुभव करते थे कि वे मिलकर जो काम कर रहे हैं वह करने योग्य है। इससे त्याग और आत्मोत्सर्ग करना आसान हो गया।

गांधीजी की पहली गिरफ्तारी

अनुमान किया जाता है कि असहयोग आंदोलन के सिलसिले में सन् १९२१ के दिसंबर और १९२२ के जनवरी महीनों में लगभग ३० हजार भारतवासी गिरफ्तार किये गये। किंतु यद्यपि अधिकांश प्रमुख नेता और कार्यकर्ता जेल में थे, सारे संघर्ष के नेता महात्मा गांधी अभी बाहर ही थे और दिन-प्रति-दिन संदेश तथा निर्देश देकर न केवल जनता को प्रेरित करते रहते थे, बल्कि उनके अनेक अनुचित कार्यों को रोकते भी रहते थे। सरकार ने अभी तक उन्हे स्पर्श नहीं किया था, क्योंकि उसे इस बात का भय था कि पता नहीं, इसका क्या परिणाम होगा और भारतीय फौज व पुलिस में इसकी कैसी प्रतिक्रिया होगी।

फरवरी, १९२२ के आरंभ में एकाएक सारा दृश्य बदल गया और हमले

जल में आश्चर्य और व्याकुलता के साथ सुना कि गांधीजी ने आंदोलन की आक्रमणकारी क्रियाएं बंद करवा दी हैं और सविनय अवज्ञा आंदोलन को स्थगित कर दिया है। हमने अखबारों में पढ़ा कि यह बात चौरीचौरा गांव के निकट घटी एक घटना के कारण की गई है, जहां कि गांववालों की एक भीड़ ने पुलिस से बदला लेने के लिए थाने में आग लगा दी थी और उसमें लगभग आधे दर्जन पुलिसमैनों को जला दिया था।

एक ऐसे समय में, जब कि हम अपना पैर जमाते जा रहे थे और सभी मोर्चों पर आगे बढ़ रहे थे, संघर्ष के इस तरह बन्द किये जाने का समाचार पढ़कर हमें क्रोध आया। किंतु जेल में पड़े-पड़े हमारी निराशा और हमारे क्रोध से किसी को लाभ नहीं पहुंच सकता था। सत्याग्रह बंद हो गया और असहयोग भी समाप्त हो गया। कई महीनों के तनाव और चिंता के बाद सरकार ने फिर आराम की सांस ली और उसे पहली बार कदम बढ़ाने का अवसर मिला। कुछ ही हफ्तों बाद गांधीजी गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हें एक लंबे अर्से के लिए जेल में डाल दिया गया।

मैं समझता हूं कि चौरीचौरा की घटना के बाद इस आंदोलन का इस प्रकार एकाएक स्थगित किया जाना गांधीजी को छोड़कर कांग्रेस के प्रायः सभी प्रमुख नेताओं को बुरा लगा। मेरे पिता (जो उस समय जेल में थे) इससे बहुत ही विचलित हुए। नवयुवक लोग तो स्वभावतः और भी व्यग्र हुए। हमारी बढ़ती हुई आशाएं एकाएक भंग हो गईं। यह मानसिक प्रतिक्रिया स्वाभाविक ही थी इससे भी अधिक दुःख हमें आंदोलन को स्थगित करने के लिए बताये गये कारणों और उनके फलस्वरूप होने वाले परिणामों पर हुआ। संभव है कि चौरीचौरा की घटना निंदनीय रही हो, जैसी कि वह वस्तुतः थी। यह भी ठीक है कि वह घटना हमारे अहिंसात्मक आंदोलन के सिद्धांत के विरुद्ध थी, किंतु क्या हमारे राष्ट्र का स्वतन्त्रता-संग्राम एक दूर के गांव और एक अनजान स्थान के उत्तेजित किसानों की भीड़ के कारण बन्द होने वाला था ? यदि एक आकस्मिक अहिंसात्मक

घटना का अनिवार्य परिणाम ऐसा होना था तो निश्चय ही हमारे अहिंसात्मक संग्राम के दर्शन और कला में कोई कमी थी, क्योंकि हमें ऐसा लगता था कि इस प्रकार की अनुचित घटनाओं की पुनरावृत्ति न होने देने की गारंटी करना असंभव है। तो क्या हमारे लिए यह आवश्यक था कि आगे बढ़ने से पहले हम अपने देश के तीस करोड़ निवासियों को अहिंसा के सिद्धांत और अभ्यास की शिक्षा दें? और इतना होते हुए भी हममें से कितने आदमी यह कह सकते थे कि पुलिस द्वारा अतिशय उत्तेजित किये जाने पर भी वे पूरी तरह से शांत रह सकेंगे? और यदि हमें सफलता मिल भी जाती तो हम उत्तेजना फैलाने वाले उन एजेन्टों आदि के लिए क्या करते जो हमारे आंदोलन में घुस आये थे और या तो स्वयं हिंसात्मक कार्रवाइयां किया करते थे या दूसरों को ऐसा करने के लिए उकसाते थे। यदि अहिंसात्मक कार्य-प्रणाली की एकमात्र शर्त यही है, तो इसमें संदेह नहीं कि वह सदा असफल रहेगी।

हमने अहिंसात्मक प्रणाली को अपना लिया था, कांग्रेस ने भी उसे अपनी कार्य-प्रणाली के रूप में अंगीकार कर लिया था, क्योंकि हमें उसकी कार्यक्षमता में विश्वास था। गांधीजी ने उसे देश के सामने राष्ट्रीय उद्देश्य की पूर्ति के लिए केवल उचित ही नहीं, बल्कि सबसे अधिक कारगर तरीके के रूप में रखा था। अपने नकारात्मक नाम के बावजूद वह एक विस्फोटक कार्य-प्रणाली थी—अत्याचारी की इच्छा के सामने नम्रतापूर्वक झुकने की क्रिया के बिलकुल विपरीत। वह किसी कायर की काम से बचने की युक्ति नहीं थी, बल्कि एक बहादुर की बुराई और राष्ट्रीय दासता से लड़ाई थी। किंतु बहादुरों और बलवानों से लाभ ही क्या यदि कुछ थोड़े से आदमी—हो सकता है कि मित्रों के वेश में वे हमारे शत्रु ही हों—अपने अविवेकपूर्ण आचार द्वारा हमारे आंदोलन को उलट या समाप्त कर देने की क्षमता रखते हों?

तलवार का सिद्धांत

अहिंसा और शांत असहयोग के तरीकों को अपनाने की अपील गांधीजी ने अपनी पूरी वाक्पटुता और प्रेरक शक्ति के साथ की थी, जिनकी कि उनमें बहुलता थी। उनकी भाषा सरल और अलंकारहीन थी, उनकी आवाज और उनकी आकृति शांत, स्पष्ट तथा भावुकता से शून्य थी, किंतु उस बाहरी शीतल आवरण के पीछे एक केन्द्रीभूत तीक्ष्ण आकांक्षा की आग धधक रही थी और जो शब्द उनके मुख से निकलते थे वे सीधे हमारे मस्तिष्क और हमारे हृदय के अन्तरतम कोने तक पहुंचकर वहां एक विचित्र हलचल पैदा कर देते थे। उन्होंने जो रास्ता दिखाया वह कठोर और कठिन था, किंतु वह एक बहादुरों का रास्ता था और ऐसा प्रतीत होता था कि वह हमें स्वतन्त्रता की उस भूमि तक पहुंचा देगा जिसकी कि हमसे प्रतिज्ञा की गई थी। उसी प्रतिज्ञा के कारण हमने उन पर विश्वास किया था और हम आगे बढ़े चले आ रहे थे। तलवार का सिद्धांत संबंधी अपने एक प्रसिद्ध लेख में उन्होंने १९-२० में लिखा था—"मेरा विश्वास है कि जब मेरे सामने केवल दो विकल्प रह जायेंगे—कायरता और हिंसा—तो मैं हिंसा के लिए सलाह दूंगा। इसके बजाय कि भारत कायरतापूर्वक अपने ही असम्मान का शिकार बने या बना रहे मैं यह पसन्द करूंगा कि वह अपने सम्मान की रक्षा के लिए हथियार उठाये। किंतु मेरा विश्वास है कि अहिंसा हिंसा से कहीं ऊंची है और क्षमादान दण्ड से अधिक वीरतापूर्ण है।

"क्षमा सिपाही की शोभा है, किंतु संयम क्षमा तभी बन सकता है जब अपने में दण्ड देने की शक्ति हो। उसका किसी असहाय व्यक्ति द्वारा प्रदर्शित किया जाना निरर्थक है। जब एक चूहा अपने को बिल्ली से टुकड़े-टुकड़े करवा लेता है तो क्या यह उसकी क्षमाशीलता है? किंतु मैं भारत को या अपने को असहाय नहीं मानता।. . . .

"आप मुझे गलत न समझिये। शक्ति शारीरिक सामर्थ्य से नहीं प्राप्त होती, वह एक अजेय संकल्प से उत्पन्न होती है।

"मैं स्वप्न नहीं देखा करता। मैं एक व्यावहारिक आदर्शवादी होने का दावा करता हूं। अहिंसा का धर्म केवल ऋषियों और महात्माओं के लिए नहीं है। वह जनसाधारण के लिए भी है। जिस तरह से हिंसा पशुओं का जीवन-सिद्धांत है, उसी तरह अहिंसा हम मानवों का। पशु में आत्मा सुप्त पड़ी रहती है और पशु शारीरिक बल के अतिरिक्त और कोई नियम नहीं जानता। मनुष्य की मर्यादा के लिए एक उच्च नियम—आत्मिक शक्ति—के प्रति आज्ञाकारिता आवश्यक है।

"इसीलिए मैंने भारत के सामने आत्मत्याग का पुराना सिद्धांत रखने का साहस किया है। सत्याग्रह और उसकी शाखाएं—असहयोग व सविनय अवज्ञा—और कुछ नहीं, बल्कि कष्ट सहन के नये नाम हैं। जिन ऋषियों ने हिंसा के बीच अहिंसा सिद्धांत का पता लगाया वे न्यूटन से भी अधिक प्रतिभा-संपन्न थे। वे वेलिंगटन से भी बड़े योद्धा थे। शस्त्रों के प्रयोग को स्वयं जानकर भी उन्होंने उनकी निरर्थकता को समझा और इस थके हुए संसार को सिखाया कि मुक्ति हिंसा नहीं; बल्कि अहिंसा के द्वारा ही मिल सकती है।

"गतिमान अवस्था में अहिंसा का अर्थ स्वेच्छित कष्टसहन है। उसका अर्थ दुष्ट के सामने नम्रतापूर्वक घुटने टेकना नहीं। बल्कि अत्याचारी की इच्छा के विरुद्ध अपना तन-मन लगा देना है। जीवन के इस नियम के अनुसार कार्य करते हुए अकेला एक व्यक्ति अपने सम्मान, अपने धर्म और अपनी आत्मा की रक्षा के लिए एक अन्यायपूर्ण साम्राज्य की पूरी शक्ति का सामना कर सकता है और उस साम्राज्य के पतन या पुनरुद्धार की नींव रख सकता है।

"अतः मैं भारतवासियों से अहिंसा का अभ्यास करने की प्रार्थना इसलिए नहीं करता कि वे दुर्बल हैं। मैं चाहता हूं कि वे अपने बल और अधिकार की पूर्ण

चेतनता के साथ अहिंसा का अभ्यास करें।....मैं चाहता हूं कि भारत इस बात को समझ ले कि उसके पास एक आत्मा है जो मर नहीं सकती, जो सब तरह की शारीरिक दुर्बलताओं पर विजयी हो सकती है और पूरे संसार के शारीरिक संगठन का विरोध कर सकती है।.....

"मैं इस असहयोग को सिन फेनवाद से अलग समझता हूं, क्योंकि इसकी कल्पना कुछ इस ढंग से की गई है कि यह हिंसा के साथ-साथ प्रयोग में नहीं लाई जा सकती। किंतु मैं तो हिंसावादियों को भी एक बार अहिंसात्मक असहयोग की परीक्षा करने का निमन्त्रण देता हूं। अहिंसात्मक असहयोग अपनी किसी आंतरिक दुर्बलता के कारण असफल नहीं हो सकता, वह केवल लोगों का समर्थन न प्राप्त होने के कारण असफल हो सकता है। असली खतरे का समय वही होगा। उच्च आत्मा वाले लोग, जो राष्ट्रीय अपमान को अब और सहने में असमर्थ हैं, अपना क्रोध निकालना चाहेंगे। वे हिंसा का अनुगमन करेंगे। जहां तक मैं जानता हूं ऐसे लोग अपने को या अपने देश को अन्याय से मुक्त कराये बिना ही नष्ट हो जायेंगे। संभव है कि भारत तलवार के सिद्धांत को अपना कर क्षणिक विजय प्राप्त कर सके। किंतु तब भारत वह भारत नहीं रह जायगा जिस पर मैं गर्व कर सकूं। भारत से मेरा संबंध इसलिए है कि मुझे सब कुछ उसी से मिला है। मुझे यह पूर्ण विश्वास है कि उसे सारे संसार को एक संदेश देना है।"

अहिंसा एक प्रणाली के रूप में

इन तर्कों ने हमें प्रभावित तो किया, किंतु अहिंसा हमारे लिए और संपूर्ण रूप से कांग्रेस के लिए कोई धर्म या कोई निर्विवाद मत या सिद्धांत नहीं थी और न हो सकती थी। वह हमारे लिए एक नीति, एक तरीका, भर हो सकती थी, जिससे हम कुछ परिणामों की आशा रख सकते थे। इन्हीं परिणामों की कसौटी पर उसे अंतिम रूप से कसना भी होगा। अलग-अलग लोग इसे धर्म या अविवादित मत

का रूप दे सकते हैं, किंतु कोई भी राजनैतिक संस्था, जब तक कि उसका रूप राजनैतिक रहता है, ऐसा नहीं कर सकती।

चौरीचौरा की घटना और उसके परिणामों ने हमें अहिंसा पर एक प्रणाली के रूप में सोचने के लिए विवश किया और हमने महसूस किया कि सविनय अवज्ञा आंदोलन को स्थगित करने के लिए गांधीजी ने जो तर्क किया है वह अगर ठीक है तो हमारे विरोधियों के हाथ में सदा ऐसी स्थिति उत्पन्न करने की शक्ति बनी रहेगी जिससे कि वे हमें अपने संघर्ष को स्थगित करने के लिए बाध्य कर सकें। यह दोष अहिंसात्मक प्रणाली का था या गांधीजी द्वारा की गई उसकी व्याख्या का? आखिर वही तो इसके जन्मदाता थे! फिर उनसे ज्यादा कौन इस बात को समझ सकता था कि यह आंदोलन क्या है और क्या नहीं? और उनके बिना हमारे आंदोलन में रखा ही क्या था!

मैं हड़ताल के लिए पर्चे बांटने के अपराध में गिरफ्तार किया गया था। उस समय यह कोई कानूनी अपराध नहीं था, गोकि मैं समझता हूं कि अब हो गया है, क्योंकि हम औपनिवेशिक स्वराज्य की ओर बड़ी तेजी के साथ बढ़ रहे हैं। कुछ भी हो, मुझे कैद की सजा मिली। तीन महीने बाद जेल में, जहां मेरे पिताजी और दूसरे लोग भी थे, मुझे बताया गया कि मेरे दण्ड पर पुनः विचार करनेवाला कोई अधिकारी इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि मैं गलती से गिरफ्तार कर लिया गया था अतः छोड़ दिया जाऊंगा। इस पर मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि मेरी ओर से किसी ने कोई पैरवी नहीं की थी। साफ मालूम होता था कि सविनय अवज्ञा आंदोलन के स्थगित होने से सशोधक जज एकाएक क्रियाशील हो उठे हैं। अपने पिताजी को वहीं जेल में छोड़कर आने में मुझे बड़ा दुःख हुआ।

मैंने फौरन ही गांधीजी के पास अहमदाबाद जाने का निश्चय किया, किंतु मेरे वहां पहुंचने से पहले ही वे गिरफ्तार कर लिये गये थे और मेरी उनकी मुलाकात साबरमती जेल में हुई। जिस समय उन पर मुकदमा चल रहा था, मैं भी वहां

मौजूद था। वह एक स्मरणीय अवसर था और हममें से जो लोग वहां उपस्थित थे वे उसे कदापि नहीं भूल सकते। जज ने, जो कि एक अंग्रेज था, बड़ी मर्य्यादा और सहानुभूति के साथ व्यवहार किया। गांधीजी ने अदालत में जो बयान दिया उसने सब को हिला दिया और जब हम वहा से लौटे तो हमारे हृदय का एक-एक तार कंपित हो रहा था, हमारे कानों में उनके स्पष्ट और सजीव शब्द गूंज रहे थे और हमारी आखो के सामने वहां के दृश्य के अनेक उल्लेखनीय चित्र नाच रहे थे।

बीमारी और रिहाई

सन् १९२४ के आरम्भ में एकाएक खबर मिली कि गाधीजी जेल में सख्त बीमार हो गए हैं। बाद में मालूम हुआ कि वह अस्पताल भेज दिये गए हैं और वहां उनका आपरेशन हुआ है। सारा भारत चिता में डूब गया और हम भयभीत-से सांस रोके प्रतीक्षा करते रहे। अंत में सकट टल गया और देश के कोने-कोने से लोग गांधीजी को देखने के लिए पूना की ओर टूट पड़े। उस समय भी वह अस्पताल मे ही थे और उन पर पहरा बैठा हुआ था, किंतु उन्हें थोड़े-बहुत मित्रो से मिलने की अनुमति मिल गई थी। पिताजी और मैंने उनसे वहीं अस्पताल में भेंट की।

अस्पताल से वह जेल वापस नहीं भेजे गये। अभी वह अच्छे हो ही रहे थे कि सरकार ने उनकी कैद की बची हुई मियाद छोड़ दी और वह रिहा कर दिये गये। उस समय तक वह ६ वर्ष में से लगभग २ वर्ष की सजा काट चुके थे। स्वास्थ्य-लाभ के लिए वह बम्बई के पास समुद्र पर जुहू चले गये।

हमारा परिवार भी जुहू जा धमका और वहां हम समुद्र के किनारे एक छोटे-से तम्बू में जम गये। वहा कई सप्ताह तक रहे और मुझे एक लम्बे अर्से के बाद मनमाने ढंग से छुट्टी मनाने का अवसर मिला, क्योंकि वहां मैं समुद्र में तैर सकता था और तट पर दौड़ तथा सवारी कर सकता था। किंतु हमारे वहां ठहरने

का मुख्य अभिप्राय छुट्टी मनाना नहीं, बल्कि गांधीजी से विचार-विनिमय करना था। पिताजी ने उन्हें स्वराज पार्टी का दृष्टिकोण समझाना चाहा और उसके लिए अगर उनकी सक्रिय सहानुभूति नहीं तो कम-से-कम विरोधहीन सहयोग अवश्य प्राप्त करना चाहा। मैं भी अपनेको परेशान करने वाली कुछ समस्याओं पर प्रकाश डलवाने के लिए चिंतित था। मैं यह जानना चाहता था कि गांधीजी का भावी कार्यक्रम क्या होगा?

जुहू की वार्ता गांधीजी को स्वराजवादियों के पक्ष में खींचने या उन्हें उस दिशा में कण मात्र भी आकर्षित करने में सफल न हो सका। मैत्रीपूर्ण वार्ता और भद्रतापूर्ण सद्भावना-प्रदर्शन के बाद भी असलियत यही रही कि समझौता नहीं हो सका। उनमें मतभेद बना रहा और इस संबंध में समाचारपत्रों में वक्तव्य भी प्रकाशित करा दिये गए।

जुहू से मैं भी कुछ निराश हो कर ही लौटा, क्योंकि गांधीजी ने मेरी एक भी शंका का समाधान नहीं किया। जैसा कि वह साधारणतः किया करते हैं, उन्होंने भविष्य की चिंता करने या कोई दूरस्थ कार्यक्रम बनाने से इन्कार कर दिया।

गांधीजी जब से भारत के राजनैतिक क्षेत्र में अवतरित हुए हैं, जनता की दृष्टि में उनकी लोकप्रियता कभी घटी नहीं है। इसके विपरीत वह दिन-पर-दिन बढ़ती ही रही है और यह क्रम अब भी जारी है। हो सकता है कि जनता उनकी इच्छाओं के अनुसार कार्य न करती हो, क्योंकि मनुष्य अक्सर दुर्बल स्वभाव का होता है; फिर भी उसका हृदय उनके प्रति सद्भावना से ओतप्रोत है। जब कभी उसकी निजी अवस्था अनुकूल होती है तभी वह बड़े-बड़े सामूहिक आंदोलन ले खड़ी होती है, नहीं तो चुपचाप दबी पड़ी रहती है। कोई भी नेता जादूगर का डंडा घुमाकर शून्य में से जन-आंदोलन की उत्पत्ति नहीं कर सकता। जब जनता जाग्रत हो तभी नेता भी उसकी अवस्था से लाभ उठा सकता है। वह उसे तैयार कर सकता है, उत्पन्न नहीं कर सकता।

पढ़े-लिखे लोगों में गांधीजी की लोकप्रियता घटती-बढ़ती रहती है। आगे बढ़ने का उत्साह जागने पर वे उनके पीछे-पीछे चल पड़ते हैं, किंतु जब इस उत्साह की अनिवार्य प्रतिक्रिया होती है तो वे टीका-टिप्पणी करने लगते हैं। इतने पर भी उनमें से अधिकांश लोग उनके आगे सिर झुकाते हैं। इसका एक कारण यह है कि उनके सामने कोई दूसरा कारगर कार्यक्रम नहीं है। उदार दलवालों और उनसे मिलते-जुलते दूसरे दलों की कोई बिसात नहीं; आधुनिक युग में आतंकवादी हिंसा में विश्वास करनेवालों का भी कोई स्थान नहीं; वे बेकार और पिछड़े हुए समझे जाते हैं। जहां तक समाजवाद का सवाल है, उसे अभी बहुत कम लोग जानते हैं और उससे कांग्रेस के उच्च श्रेणी के सदस्य भय खाते हैं।

पिताजी और गांधीजी

सन् १९२४ के मध्य में कुछ दिनों के राजनैतिक मतभेद के बाद मेरे पिताजी और गांधीजी में फिर पुराने संबंध स्थापित हो गए और बढ़ते-बढ़ते पहले से भी अधिक घनिष्ठ होगए। उनमें चाहे कितना भी मतभेद क्यों न रहा हो, उनके मन में एक-दूसरे के लिए अधिक-से-अधिक आदर था। आखिर वह कौन-सी बात थी, जिसका वे इतना आदर करते थे? 'विचारधाराएं' शीर्षक पुस्तक में, जो गांधीजी के कुछ चुने हुए लेखों का संग्रह है, मेरे पिताजी ने एक छोटी-सी भूमिका लिखते हुए अपने मन की बातों का थोड़ा-सा आभास दिया है। उन्होंने लिखा है—

"साधु-संतों और दैवी पुरुषों की बात तो मैंने सुनी है, किंतु उनसे मिलने का सौभाग्य कभी नहीं मिला। मैं यह स्वीकार करना चाहता हूं कि मुझे इस प्रकार के प्राणियों की वास्तविक विद्यमानता में शंका है। मैं मनुष्यों और मानवोचित बातों में विश्वास करता हूं। जो विचारधाराएं इस पुस्तक में सुरक्षित की गई हैं वे एक मनुष्य से प्रवाहित हुई हैं और मनुष्योचित हैं। उनमें मानुषिक स्वभाव के दो महान् गुण दिखाई देते हैं—विश्वास और बल।...

"आखिर इस सब का क्या नतीजा निकलेगा? यह एक ऐसे व्यक्ति का प्रश्न है जिसमें न विश्वास है, न बल। 'विजय या मृत्यु'—यह उत्तर उसके मन को नहीं भाता। ... उधर वह विनीत और कृशकाय व्यक्ति दृढ़ विश्वास और अजेय बल के शक्तिशाली आधार पर उठकर खड़ा होकर अब भी अपने देशवासियों को मातृभूमि के लिए त्याग करने और कष्ट सहने का संदेश दे रहा है। वह संदेश लाखों के हृदय में गूंज उठता है। ..."

और अंत में उन्होंने स्विनबर्न की ये पंक्तियां उद्धृत की हैं—

"क्या हमारे साथ कोई राजसी आदमी नहीं—ऐसे आदमी, जिनका परिस्थिति पर काबू हो?"

स्पष्ट है कि पिताजी इस बात पर जोर देना चाहते थे कि वह गांधीजी का संत या महात्मा नहीं, बल्कि मनुष्य के रूप में आदर करते हैं। स्वयं दृढ़-संकल्पी होने के कारण वह गांधीजी के आत्मिक बल की प्रशंसा करते थे। स्पष्ट दिखाई देता है कि कृश शरीरवाले उस छोटे-से आदमी के भीतर कोई चीज इस्पात की बनी हुई है, कोई चीज चट्टान-जैसी है, जो प्रबल-से-प्रबल शारीरिक शक्ति के सामने नहीं झुकती। अपनी प्रभावहीन आकृति, अपनी छोटी धोती और अपने नंगे शरीर के बावजूद उसमें एक राजसीपन था जिसके सामने सभी लोग स्वेच्छा से सिर झुकाते थे। वह जानबूझ कर नम्र और विनीत बना रहता था, फिर भी उसमें बल और अधिकार था। इस स्थिति से वह पूर्णतः भिज्ञ था और कभी-कभी तो एक सम्राट् की तरह आदेश भी दिया करता था जिसका पालन करना अनिवार्य था। उसकी शांत गहरी आंखें लोगों को अपनी ओर खींच लेती थीं और धीरे-धीरे उनके अन्तःप्रदेश में प्रवेश कर जाती थीं। उसकी साफ और निर्मल वाणी लोगों के हृदय को छू जाती थी और उनमें भावुकतापूर्ण समर्थन की भावना जाग्रत कर देती थी। उसके श्रोताओं की संख्या एक हो चाहे असंख्य, उसका आकर्षण उन तक पहुंच ही जाता था और प्रत्येक के हृदय में उसके प्रति आत्मिक सम्पर्क की

भावना जाग्रत हो जाती थी। इस भावना का मस्तिष्क से बहुत ही कम संबंध था, क्योंकि गांधीजी लोगों के मस्तिष्क को भी आकर्षित करने की आवश्यकता की बिलकुल अवहेलना नहीं करते थे। किंतु निश्चय ही उनकी दृष्टि में मस्तिष्क और तर्क का स्थान गौण था। लोगों को मुग्ध करने का यह काम किसी वाक्पटुता अथवा लच्छेदार शब्दों द्वारा नहीं होता था। गांधीजी की भाषा सदा सरल और विषय-संगत होती थी। किसी अनावश्यक शब्द का प्रयोग वह शायद ही कभी करते हों। लोगों को जो वस्तु जकड़ लेती थी वह थी गांधीजी की अतिशय सचाई और उनका व्यक्तित्व। उन्हें देख और सुनकर ऐसा लगता था जैसे उनके भीतर प्रबल शक्ति का एक अनन्त सागर लहरा रहा है। शायद उनके चारों तरफ एक ऐसी परम्परा खड़ी होगई थी जो अनुकूल वातावरण को जन्म देने में सहायक होती थी। सम्भव था कि इस परम्परा से अनभिज्ञ और वातावरण से सामंजस्य न रखनेवाले किसी अजनबी पर उनकी मोहनी का बिलकुल या इतना प्रभाव न पड़ता। फिर भी गांधी-जी का एक बहुत बड़ा गुण यह था और है कि वह अपने विरोधियों को जीत लेते हैं या कम-से-कम उन्हें निःशस्त्र कर देते हैं।

गांधीजी को मनुष्य द्वारा बनाई गई चीजों में बहुत ही कम सुन्दरता या कला दिखाई देती थी। उनकी दृष्टि में ताजमहल और कुछ नहीं, बल्कि जबरदस्ती कराई गई मेहनत का प्रतीक मात्र था। उनकी सूंघने की शक्ति भी दुर्बल थी। फिर भी उन्होंने अपने ढंग पर जीवन की कला का पता लगा लिया था और अपने जीवन को कलामय बना लिया था। उनके प्रत्येक इंगित में एक अर्थ और शोभा थी और असत्य तो उसे छू भी नहीं गया था। उनके व्यवहार में कोई भुक्खड़पन या तीक्ष्णता नहीं थी। उनमें उस भद्देपन का भी अभाव था जो दुर्भाग्यवश हमारे मध्यम वर्गों के लोगों का एक विशेष गुण है। स्वयं आंतरिक शांति प्राप्त कर लेने के बाद उसे उन्होंने औरों तक पहुंचाया और जीवन के कष्टजनित मार्गों पर वह दृढ़ता और निर्भयता के साथ बढ़ते रहे।

उनमें और मेरे पिताजी में कितना अंतर था ! किंतु मेरे पिताजी में भी व्यक्तित्व का बल और एक प्रकार का राजसीपन था। स्विनबर्न की जो पंक्तियां उन्हीं- ने गांधीजी के लिए उद्धृत की थीं उनका प्रयोग स्वयं उनके लिए भी हो सकता था। जिस किसी सभा में वह भाग लेते थे, जनता के आकर्षण के केन्द्र बन जाते थे। टेबल पर जिस जगह भी वह बैठते थे वही जगह, जैसा कि बाद में एक प्रसिद्ध अंग्रेज जज ने कहा था, मुख्य अतिथि की जगह बन जाती थी। वह न तो विनीत थे, न नम्र, और न ही गांधीजी की तरह अपने से मतभेद रखनेवालों को छोड़ देते थे। उनकी यह राजसी प्रवृत्ति ऐसी नहीं थी जिसका उन्हें स्वयं ज्ञान हो। बहुत-से लोग उनके कट्टर आज्ञाकारी और बहुत-से कट्टर विरोधी थे। उनके प्रति तटस्थ रहना असंभव था। उन्हे या तो पसन्द किया जा सकता था, या नापसन्द। उनका माथा चौड़ा, होंठ कसे हुए और ठोढ़ी दृढ़ता की सूचक थी। इटली के अजायबघरों में रोमन सम्राटों की जो ऊपरी धड़ की मूर्तियां रखी हुई है, उनसे वह बहुत मिलते-जुलते थे। इटली के बहुत से मित्रों ने, जिन्होंने हमारे पास उनका चित्र देखा, इस सादृश का उल्लेख किया। खास तौर से बाद की उम्र में जब उनके बाल सफेद हो गये थे —मेरी तरह उन्होने अपने बाल कटवाये नहीं थे—उनमें एक तेज और शाही ढंग था जो आजकल के संसार में ढूंढे नहीं मिलता। मैं समझता हूं कि मैं उनके साथ पक्षपात कर रहा हूं, किंतु क्षुद्रता और दुर्बलता से भरे हुए इस संसार में मुझे उनकी उत्कर्षकारी उपस्थिति का अभाव बड़ा अखरता है। आज मैं उनके उस शाही ढंग और अपूर्व बल को निरर्थक ही ढूंढने का प्रयत्न करता हूं।

मुझे याद है कि कभी सन् १९२४ में मैंने पिताजी की एक तस्वीर गांधीजी को दिखाई थी। उन दिनों उनकी स्वराज्य पार्टी से खींचा तानी चल रही थी। इस चित्र में पिताजी के मूंछ नहीं थी और उस समय तक गांधीजी ने उन्हें सदा शानदार मूंछ के साथ देखा था। उस चित्र को देखकर वह जैसे चौंक-से पड़े और उसे बड़ी देर तक आंख गड़ाये देखते रहे, क्योंकि मूंछ के हट जाने से पिताजी के मुंह

और ठोढ़ी की कठोरता दिखाई देने लगी थी। गांधीजी ने कुछ-कुछ रूखी हंसी के साथ कहा कि अब पता चला कि मुझे किससे लोहा लेना है। फिर भी आंखों और बराबर हंसने से पड़ी हुई रेखाओं के कारण उनका चेहरा कुछ मुलायम दिखाई देता था। किंतु कभी-कभी वे आंखें चमक उठती थीं।

दिसंबर, १९२४ में कांग्रेस का अधिवेशन बेलगांव में हुआ जिसके अध्यक्ष गांधीजी थे। गांधीजी का कांग्रेस का अध्यक्ष बनना एक प्रकार से उच्चतम स्तर पर पहुंचकर नीचे उतरना था, क्योंकि वह तो स्थायी रूप से उसके महाध्यक्ष थे।

: ३ :

भारत की जनता से संबंध

कुछ वर्ष के लिए खादी का प्रचार ही गांधीजी का मुख्य कार्य रहा था और इस उद्देश्य से उन्होंने सारे देश में दूर-दूर तक दौरा किया था। उन्होंने हर प्रांत को एक-एक कर के लिया था और वह हर जिले के हर शहर और दूर-दूर के देहातों तक में गये थे। सब जगह उन्हें देखने और सुनने के लिये विशाल-जन समुदाय उमड़ पड़ता था और उनके कार्यक्रम को पूरा करने के लिए कार्यकर्ताओं को पहले से ही बहुत काम करना पड़ता था। इस तरह उन्होंने भारत का कई बार दौरा किया है और इस विशाल देश के कोने-कोने को उत्तर से लेकर सुदूर दक्षिण तक और पूर्वी पर्वतों से लेकर पश्चिमी सागर तक—जान लिया है। मैं समझता हूँ कि भारत में जितना भ्रमण उन्होंने किया है उतना किसी और ने कभी नहीं किया।

पूर्व काल में बहुत बड़े-बड़े यात्री होते थे जो सदा चलते ही रहते थे। उनमें यात्रा की एक प्रकार की लालसा सी लगी रहती थी; किंतु उनके आवागमन का साधन बड़ा धीमा था और जितना रेल और मोटर से एक साल में भ्रमण किया जा सकता है उतना वे जीवन भर में भी शायद ही कर पाते थे। गांधीजी रेल और मोटर से भ्रमण किया करते थे, किंतु उनकी यात्रा इन्हीं तक सीमित नहीं थी। वह पैदल भी चला करते थे। इस रीति से उन्होंने भारत और भारतीय जनता के संबंध में अनोखा ज्ञान प्राप्त कर लिया और इसी रीति से भारत के करोड़ों लोग उनसे मिले और उनके घनिष्ट सम्पर्क में आये।

खादी-यात्रा

सन् १९२९ में गांधी जी अपनी खादी-यात्रा पर युक्तप्रांत आये और साल के

उस सबसे गरम मौसम में वहां कई हफ्ते ठहरे। थोड़े-थोड़े दिनों के लिए मैं उनके साथ कई बार रहा और यद्यपि मेरे लिये यह कोई नया अनुभव नहीं था तथापि मैं उन बड़ी-बड़ी भीड़ों को देख कर चकित रह जाता था जो उन्हें सुनने के लिए सब जगह उमड़ पड़ती थीं। यह बात विशेषरूप से गोरखपुर आदि पूर्वी जिलों में दिखाई देती थी, जहां विशाल जनसमूहों को देखकर टिड्डी-दल का स्मरण हो आता था। देहातों में मोटर से जाते समय हमें रास्ते में हर पांच मील पर दस से लेकर पच्चीस हजार आदमियों तक की भीड़ मिलती थी और उस दिन की मुख्य सभा में तो उनकी गिनती लाख से भी ऊपर चली जाती थी। उन दिनों लाउडस्पीकरों की सुविधा नहीं थी, सिवा इसके कि कभी-कभी किसी बड़े शहर में इनका प्रबंध हो जाता था। इसलिए इतनी बड़ी-बड़ी भीड़ में प्रत्येक व्यक्ति के पास तक आवाज का पहुंचना बिलकुल असम्भव था। शायद जनता कुछ सुनने की आशा भी नहीं रखती थी; वह महात्माजी को देख कर ही संतुष्ट हो जाती थी। अक्सर गांधीजी बहुत ही संक्षेप में बोला करते थे और अपने को अनावश्यक श्रम से बचाते थे, नहीं तो हर दिन और हर घंटे इस तरह काम करना कैसे सम्भव हो सकता था?

मैं गांधीजी के साथ सब जगह नहीं गया, क्योंकि न तो मैं उनके कुछ विशेष उपयोगी सिद्ध हो सकता था और न उनके साथ चलने वाले लोगों की संख्या को बढ़ाने में ही कोई तथ्य था। वैसे मैं भीड़ से घबराता नहीं था, लेकिन कोई ऐसी बात नहीं थी। जिसके लिये मैं अपने को धक्कमधक्का में फंसता और अपने पैरों को कुचलवाता जैसा कि गांधीजी के साथ चलने वाले लोगों के भाग्य में बदा होता है। मुझे बहुत-सा दूसरा काम भी करना था और मैं अपने को खादी-प्रचार के ही काम तक सीमित नहीं रखना चाहता था, क्योंकि देश की बढ़ती हुई राजनीतिक स्थिति को देखते हुए वह मुझे अपेक्षाकृत गौण मालूम पड़ता था। कुछ हद तक मुझे गांधीजी का अपने को अराजनैतिक समस्याओं में उलझाये रखना बुरा मालूम देता था और मैं उनके विचारों की पृष्ठभूमि को कभी नहीं

समझ पाता था। उन दिनों वह खादी के काम के लिए रुपया इकट्ठा कर रहे थे और अक्सर कहते थे कि मुझे दरिद्रनारायण के लिए रुपया चाहिए। 'दरिद्र-नारायण' का अर्थ है दरिद्रों का नारायण अर्थात् वह नारायण जो दरिद्रों में बसता है। शायद इससे उनका मतलब यह था कि वह गरीबों को घरेलू उद्योगधन्धों में लगा कर उनकी बेकारी को दूर करने में सहायता देना चाहते थे। किंतु उनके 'दरिद्रनारायण' शब्द के प्रयोग में एक प्रकार से दरिद्रता की महत्ता झलका करती थी। वह कहा करते थे कि ईश्वर विशेषरूप से दरिद्रों का नारायण है, दरिद्र उसके [illegible] हैं। मैं समझता हूं कि इस संबंध में सब जगह यही धार्मिक भावना है। मुझे यह [illegible] नहीं लगता था, क्योंकि दरिद्रता मुझे एक घृणित वस्तु मालूम होती थी, जिसे किसी के रूप में प्रोत्साहन देने की नहीं, बल्कि लड़कर जड़ से उखाड़ फेंकने की आवश्यकता थी। इसके लिए स्वभावतः उस सामाजिक पद्धति पर कुठाराघात करना आवश्यक था, जो न केवल गरीबी को सहन करती है, बल्कि उसे उत्पन्न भी करती है। जो लोग इस काम से बचते थे वे किसी-न-किसी रूप में निर्धनता का समर्थन अवश्य करते थे। वे केवल अभाव की बात सोच सकते थे और जीवन के समस्त आवश्यक पदार्थों से सम्पन्न संसार की कल्पना कर सकते थे। शायद उनके मत के अनुसार इस संसार में गरीब और अमीर सदा रहेंगे।

जब कभी इस विषय पर मेरी गांधीजी से बात चीत होती थी वह इस बात पर जोर देते थे कि धनवानों को अपने धन को गरीबों की थाती समझना चाहिए। यह एक बहुत ही पुराना दृष्टिकोण था और हम इसे अक्सर भारत में और मध्य-कालीन यूरोप में भी पाते हैं।

स्वतंत्रता-दिवस

२६ जनवरी, १९३० को स्वतंत्रता-दिवस मनाया गया और उसने मानों बिजली की चमक की तरह हमें देश की सचाई और उत्साहपूर्ण मनोस्थिति का

दर्शन करा दिया। जगह-जगह बड़ी-बड़ी भीड़ों का जमा होना और उनमें भाषण या जनता के उद्बोधन के बजाय शांत और सौम्यता के साथ स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा का लिया जाना—यह सब अधिक प्रभावोत्पादक था। इससे गांधीजी को आवश्यक प्रोत्साहन मिला और उन्होंने जनता की नब्ज पर हाथ रखने की अपनी चतुरता से समझ लिया कि अब काम करने का समय आगया है। इसके पश्चात् एक के बाद दूसरी घटना बड़ी तेजी से घटी—ठीक वैसे ही जैसे एक नाटक की घटनाएं चरमात की ओर बढ़ती हैं।

जैसे-जैसे सविनय अवज्ञा के दिन पास आते गये और वातावरण में एक बिजली-सी व्याप्त होती गई वैसे-वैसे हमारा ध्यान सन् १९२१-२२ के आंदोलन और चौरी-चौरा की घटना के बाद उसके सहसा स्थगित होने की ओर जाता रहा। देशवासी अब पहले से अधिक अनुशासन सीख गये थे और संघर्ष की रूपरेखा को अधिक स्पष्ट रूप से समझने लगे थे। उसकी कला भी अब कुछ-कुछ समझ में आने लगी थी, किंतु गांधीजी के दृष्टिकोण से इससे भी बड़ी बात यह थी कि हर आदमी पूरी तरह से समझ गया था कि अहिंसा के लिए गांधीजी के हृदय में एक जबर्दस्त सचाई और लगन है। इस संबंध में अब किसी को सन्देह नहीं रह गया जैसा कि दस साल पहले कुछ लोगों को था; इतने पर भी हमें यह निश्चय कैसे हो सकता था कि कहीं एकाएक या किसी षड्यंत्र के फलस्वरूप अहिंसा नहीं फूट पड़ेगी? और यदि ऐसी कोई घटना हुई तो उसका हमारे आंदोलन पर क्या प्रभाव पड़ेगा? क्या पहले की तरह वह इस बार भी सहसा बंद कर दिया जायगा? यह संभावना सबसे ज्यादा घबराहट पैदा कर रही थी।

गांधी जी ने शायद इस प्रश्न पर भी अपने ढंग से विचार कर लिया था; लेकिन जिस समस्या से उन्हें परेशानी थी—जैसा कि मैं उनसे इधर उधर की बातों में समझ पाया था—उसे उन्होंने कुछ और ही रूप में रखा।

उनकी समझ में देश की स्थिति को सुधारने का एकमात्र ठीक तरीका अहिंसा

का तरीका था और यदि उसका उचित रूप से पालन किया जाय तो वह एक अचूक तरीका था। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि इस पद्धति की क्रिया और सफलता के लिए विशेष अनुकूल परिस्थिति प्रयोजनीय है और बाहरी स्थितियों के अनुकूल न होने पर उसकी परीक्षा नहीं करनी चाहिए। इससे निष्कर्ष यह निकला कि अहिंसात्मक पद्धति सब परिस्थितियों के लिए नहीं है और इसलिए न तो विश्व-व्यापी है न अचूक। यह निष्कर्ष गांधीजी के लिए असह्य था, क्योंकि उन्हें इस बात का दृढ़ विश्वास था कि अहिंसा की पद्धति एक सर्वव्यापी और अचूक पद्धति है और इसलिए बाह्य परिस्थितियों के प्रतिकूल होने पर भी, यहां तक झगड़े और और हिंसा के समय भी, उसका अवश्य प्रयोग होना चाहिए। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार उसकी कार्य-रीति में तो परिवर्तन किया जा सकता है, किंतु उसे बंद करना उसकी असफलता को स्वीकार करना है।

शायद वह कुछ ऐसे ही ढंग पर विचार किया करते थे, किंतु मैं उनके विचारों के संबंध में कुछ निश्चित रूप नहीं कह सकता। उनकी बातों से हमें लगता तो यही था कि उनकी विचार धारा में कुछ-कुछ परिवर्तन आ गया है और सविनय अवज्ञा के आरम्भ हो जाने पर उसे किसी आकस्मिक हिंसावृत्ति के कारण बंद करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी; किंतु अगर हिंसा किसी रूप में आंदोलन का ही अंग बन जाय तो निस्संदेह वह आंदोलन एक शांतिपूर्ण आंदोलन नहीं रह जायगा और उसकी कार्रवाइयों को कम करना या बदलना होगा। गांधीजी के इस आश्वासन ने हममें से बहुतों को काफी संतुष्ट कर दिया।

अब जो बड़ा सवाल हमारे सामने रह गया था, वह था आरम्भ कैसे किया जाय? सविनय अवज्ञा को किस रूप में ग्रहण किया जाय कि वह कारगर, परिस्थितियों के अनुकूल और जनता को प्रिय सिद्ध हो। और तब महात्मा जी ने संकेत किया।

एकाएक नमक एक रहस्यपूर्ण, एक बलवान शब्द बन गया। नमक-कर पर

आघात करने और नमक कानून को तोड़ने का निश्चय किया गया। इससे हम चकित रह गये और एक राष्ट्रीय आंदोलन का साधारण नमक से ठीक-ठीक मेल नहीं बैठा सके। दूसरी आश्चर्यजनक घटना गांधीजी की 'ग्यारह सूत्रों' की घोषणा थी। जब हम स्वतंत्रता की बातें कर रहे थे तो थोड़ेसे राजनैतिक और सामाजिक सुधारों की सूची बनाने का क्या मतलब था, चाहे वे सुधार अच्छे ही क्यों न थे? क्या इस शब्द का प्रयोग करते समय गांधीजी का भी वही मतलब हुआ करता था जो हमारा? या हमारा कुछ और अभिप्राय था? बहस करने के लिए समय नहीं था, क्योंकि घटनाओं का क्रम आरम्भ हो गया था, भारत में तो वे हमारी आंखों के सामने ही राजनैतिक रूप धारण कर दिन-पर-दिन आगे बढ़ रही थीं और भारत से बाहर संसार के अन्य देशों में भी तेजी से बढ़ रही थीं और उसे एक भयंकर आर्थिक संकटके जाल में फंसती जा रही थीं, यद्यपि इस बात को हम उस समय समझ नहीं पाये थे। कीमतें गिर रही थीं, शहर वाले अतिशय लाभ का संकेत समझ कर प्रसन्न हो रहे थे, किंतु किसान और आसामी उसे घबराहट के साथ देख रहे थे।

डांडी-यात्रा

इसके बाद गांधीजी की वायसराय से लिखा-पढ़ी हुई और नमक का कानून भंग करने के लिए साबरमती आश्रम से डांडी की तरफ कूच आरम्भ हुआ। जैसे-जैसे आगे बढ़ते हुए इस यात्री-दल के रोज-रोज के समाचार आते रहे वैसे-वैसे देश में उत्तेजना फैलती गई। संघर्ष अब बिलकुल समीप आ गया था और उसके अन्तिम प्रबंध करने के लिए अहमदाबादमें कांग्रेस महासमिति की एक बैठक की गई। संघर्ष का नेता उसमें मौजूद नहीं था, क्योंकि उस समय वह यात्रियों के एक जत्थे के साथ समुद्र की ओर बढ़ रहा था।

अंतिम तैयारी करने के बाद कांग्रेस के महासमिति के सदस्यों ने अहमदाबाद

में एक दूसरे से अलविदा की, क्योंकि किसी को पता नहीं था कि आगे हम कब और कैसे मिलेंगे और कभी मिलेंगे भी या नहीं। कांग्रेस महासमिति के नये निर्देशों के अनुसार स्थानीय तैयारियों को अंतिम रूप देने के लिए और, जैसा कि सरोजनी नायडू ने कहा, जेल-यात्रा के निमित्त अपने दांत साफ करने के बुशों को तैयार रखने के लिए हम जल्दी-जल्दी अपने-अपने ठिकानों को भागे।

लौटते समय मैं और पिताजी गांधीजीसे मिलने गए। उस समय वह अपने जत्थे के साथ जम्बूसर में थे। वहां हम उनके साथ कुछ घंटे रहे, जिसके बाद वह दलबल सहित खारे समुद्र की यात्रा के अगले पड़ाव की ओर चल दिये। उस रूप में मेरे लिए उनकी वह अंतिम झलक थी—हाथ में डंडा लिए वह अपने अनुयायियों के आगे-आगे मजबूत कदम और शांतिपूर्ण किंतु निश्चल दृष्टि से चल रहे थे। निश्चय ही वह हृदय को हिला देने वाला दृश्य था।

सन् १९१९ की घटनाओं की याद में हर साल (सत्याग्रह-दिवस से जलियांवाला बाग दिवस तक का) जो राष्ट्रीय सप्ताह मनाया जाता है उसकी पहली तारीख छः अप्रैल थी। उसी दिन गांधीजी ने डांडी के समुद्र तट पर नमक-कानून को भंग करना आरम्भ किया और तीन या चार दिन बाद सभी कांग्रेसी संस्थाओं को ऐसा ही करने और अपने-अपने क्षेत्र में सविनय अवज्ञा आरम्भ करने की अनुमति द दी गई।

ऐसा मालूम होता था मानो सहसा वसंत छा गया। देश के शहर-शहर और गांव-गांव में नमक बनाने की चर्चा थी और नमक तैयार करने के लिए बड़े-बड़े विचित्र तरीके काम में लाये जा रहे थे। इस संबंध में हम जानते तो बहुत कम थे, इसलिए जहां से सम्भव होता था वहीं से कुछ पढ़-पढ़ कर पर्चे बांट-बांट कर हिदायतें देते थे। हम बर्तन और कड़ाहे इकट्ठा करते थे और अंत में थोड़ा-बहुत नमक तैयार कर ही लेते थे। उसी को हम विजय के उन्माद में उठाये फिरते थे और ऊंचे-ऊंचे दामों पर नीलाम कर देते थे।

चीज अच्छी तैयार होती या बुरी, इसका कोई सवाल नहीं था। असली काम मनहूस नमक-कर को तोड़ना था और इस कार्य में हमें सफलता मिली, चाहे हमारे द्वारा तैयार किया गया नमक निम्न कोटि का ही क्यों न था। जब हमने देखा कि जनता में अगाध उत्साह है और नमक बनाने का काम घास की आग की तरह फैलता जा रहा है तो हमें इस बात पर लज्जा आई कि जब गांधीजी ने पहले पहल नमक बनाकर नमक-कानून को भंग करने का प्रस्ताव रखा था तो हमने उसकी कार्य-क्षमता पर शंका प्रकट की थी। आज हम उनके जनता को प्रभावित करने और उससे संगठित रूप से काम कराने के आश्चर्यजनक कौशल को देखकर स्तम्भित रह गये।

सन् १९३० का वह साल नाटकीय स्थितियों और जोश दिलाने वाली घटनाओं से भरा हुआ था। हमें सबसे अधिक आश्चर्य गांधीजी की समस्त जनता में प्रेरणा और उत्साह भरनेकी विस्मयकारी शक्ति पर हुआ। उनमें मानो एक मोहिनी थी और हमें गोखले के उन शब्दों का स्मरण हो आया जिनका उन्होंने एक बार गांधीजी के लिए प्रयोग किया था। उन्होंने कहा था—"इनमें मिट्टी के ढोंधे से बड़े-बड़े बहादुरों का निर्माण करने की शक्ति है।" राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक कार्य-प्रणाली के रूप में शांत सविनय अवज्ञा आंदोलन अपनी उपयोगिता सिद्ध कर चुका था और देश भर में—मित्रों और शत्रुओं दोनों के हृदय में—यह मौन विश्वास उत्पन्न हो गया कि हम विजय की ओर बढ़ रहे हैं। जो लोग आंदोलन में सक्रिय भाग ले रहे थे उनमें एक विचित्र उत्तेजना भरी हुई थी और वह उत्तेजना कुछ-कुछ जेलों तक में पहुँच गई थी। साधारण कैदी कहते थे—'स्वराज आ रहा है' और इस स्वार्थपूर्ण आशा में कि इससे उन्हें कुछ लाभ होगा वे उसकी बेचैनी के साथ प्रतीक्षा करते रहे। जेल वाले भी बाजार की चर्चाओं को सुनकर यह उम्मीद करने लगे थे कि स्वराज निकट है। जेल के छोटे-छोटे अधिकारी कुछ ज्यादा परेशान दिखाई देने लगे थे।

गोलमेज कान्फ्रेंस के बाद

६ फरवरी, १९३१, को—ठीक उसी दिन और शायद ठीक उसी समय जब मेरे पिता जी की मृत्यु हुई—गोलमेज कान्फ्रेंस के भारतीय सदस्यों का एक दल बम्बई लौटा। श्रीनिवास शास्त्री, सर तेज बहादुर सप्रू और शायद कुछ और लोग जिनकी मुझे याद नहीं है सीधे इलाहाबाद आये। गांधीजी और कांग्रेस कार्यसमिति के कुछ सदस्य पहले से ही वहां थे। हमारे घर पर कुछ प्राइवेट बैठकें हुईं जिनमें गोलमेज कांफ्रेंस में किये गए कामों का ब्योरा दिया गया।

गोलमेज कान्फ्रेंस के निर्णयों का कोई महत्त्व नहीं, यह मत हमारा पहले भी था और अब उसी की पुष्टि हुई। उस समय किसीने—मुझे याद नहीं किसने—यह सुझाव रखा कि गांधीजी वायसराय को पत्र लिखकर उनसे मुलाकात की अनुमति मांगें और साफ-साफ बातें करें। गांधीजी ऐसा करने के लिए तैयार हो गए, यद्यपि मैं समझता हूँ कि इस मामले में उन्हें कोई ज्यादा उम्मीद नहीं थी।

जो लोग गांधीजी से सहमत नहीं होते थे उनसे मिलना गांधीजी हमेशा पसंद करते थे; लेकिन किसी एक आदमी से निजी मामलों पर या छोटे-छोटे सवाल पर बात चीत करना और बात थी और विजयी साम्राज्यवाद का प्रतिनिधित्व करने वाली ब्रिटिश सरकार जैसी अव्यक्तिगत संस्था से लोहा लेना और बात। गांधीजी इस बात को जानते थे और इसलिए वह लार्ड इर्विन से मिलने कोई ऊंची उम्मीद लेकर नहीं गए। सविनय अवज्ञा आंदोलन तब भी चल रहा था, किंतु सरकार से विचार-विनिमय होने की अधिक चर्चा होने के कारण उसकी उग्रता कुछ कम हो गई थी।

मुलाकात की व्यवस्था फौरन हो गई और गांधीजी यह कह कर दिल्ली के लिए रवाना हो गए कि अगर अस्थायी समझौते के लायक कोई गम्भीर बातचीत हुई तो कार्यसमिति के सदस्यों को बुला लूंगा। कुछ दिनों बाद हम सब दिल्ली बुलाये गये।

वहां हम तीन हफ्ते रहे। इस बीच हमारी हर रोज बैठक होती थी जिसमें हम देर तक विस्तार के साथ विचार-विनिमय करते थे। लार्ड इर्विन के साथ गांधीजी की जल्दी-जल्दी मुलाकातें होती थीं, लेकिन कभी-कभी तीन-तीन चार-चार दिन का अन्तर पड़ जाता था, जिसका कारण शायद यह था कि इस बीच भारत सरकार लंदन-स्थित इंडिया आफिस से परामर्श करती थी। कभी-कभी छोटी-छोटी बातों—यहां तक कुछ शब्दों—के कारण प्रगति रुक जाती थी। इनमें से एक शब्द सविनय अवज्ञा आन्दोलन का 'स्थगित किया जाना' था। गांधीजी यह बात हमेशा साफ-साफ कहते आये थे कि सविनय अवज्ञा का आन्दोलन सदा के लिए बंद या छोड़ा नहीं जा सकता, क्योंकि जनता के हाथ में वही एकमात्र शस्त्र है। फिर भी वह स्थगित किया जा सकता था। लार्ड इर्विन को इस शब्द पर आपत्ति थी। और वह उसे एक निश्चित रूप देना चाहते थे, जिसके लिये गांधीजी तैयार नहीं होते थे। अंत में 'सिलसिला बंद कर देना' शब्द का प्रयोग हुआ।

गांधीजी के ऊंचे नक्षत्र

उन दिनों दिल्ली सभी तरह के लोगों का आकर्षण बनी हुई थी। वहां बहुत से विदेशी—विशेष रूप से अमरीकी—पत्रकार थे। वे हमारी चुप्पी से कुछ-कुछ तंग आगये थे और कहते थे कि गांधी-इर्विन वार्त्ता के संबंध में हमें आपकी बनिस्पत नई दिल्ली के सेक्रेटेरियेट से ज्यादा खबरें मिल जाती हैं। यह एक सही बात थी। उन्हीं दिनों दिल्ली में बहुत से उच्च श्रेणी के ऐसे लोग थे जो गांधीजी को प्रणाम करने आते थे। इसका कारण शायद यह था कि उन दिनों गांधीजी के नक्षत्र ऊंचे हो रहे थे। इन लोगों को देखकर बड़ी हंसी आती थी; क्योंकि अब तक तो वे गांधीजी और कांग्रेस से बिलकुल अलग रहे थे और अक्सर उनकी निन्दा भी करते आये थे और अब जल्दी-जल्दी अपनी भूल सुधारने चले थे। कांग्रेस ने अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी और किसी को पता नहीं था कि भविष्य के गर्भ में क्या

छिपा है। फिर भी कांग्रेस और उसके नेताओं से बनाये रखने में ही अधिक बुद्धिमानी थी। एक साल बाद इन लोगों में फिर परिवर्तन हुआ और वे चिल्ला-चिल्ला कर कांग्रेस तथा उसके सारे कार्य के प्रति अपनी प्रगाढ़ घृणा प्रकट करने लगे और कहने लगे कि उनका कांग्रेस से कोई संबंध नहीं।

घटनाओं ने सम्प्रदायवादियों तक को विचलित कर दिया और उन्हें कुछ-कुछ शंका होने लगी कि भावी व्यवस्था में शायद उन्हें अधिक प्रमुख स्थान न मिले। इसलिए उनमें से बहुत-से लोगों ने महात्मा गांधी के पास आकर विश्वास दिलाया कि साम्प्रदायिक प्रश्न पर वे समझौता करने को बिलकुल तैयार हैं और अगर गांधीजी पहल करें तो समझौता होने में कोई कठिनाई नहीं पड़ेगी।

गांधीजी से मिलने के लिए बड़े-बड़े समृद्धशाली लोग भी आये। उन्होंने मनुष्य-स्वभाव का एक दूसरा पहलू दिखलाया। यह पहलू अपने को परिस्थिति के अनुकूल बना लेने का पहलू था। इन लोगों को जिस ओर से भी शक्ति और सफलता की सुगंध आती थी वे उसी ओर मुड़ जाते थे और उसका मुसकराते हुए स्वागत करते थे। उनमें से बहुत से तो भारत स्थित ब्रिटिश सरकार के दृढ़ स्तंभ थे। लेकिन यह जानकर संतोष होता था कि भारत में जो कोई भी सरकार फले-फूलेगी वे उसी के दृढ़ स्तंभ बन जायंगे।

उन दिनों नई दिल्ली में मैं अक्सर गांधीजी के साथ सवेरे टहलने जाया करता था। अक्सर वही एक ऐसा समय होता था जब कोई उनसे बातचीत कर सकता था, क्योंकि दिन का शेष भाग तो छोटे-छोटे टुकड़ों में बंट जाता था और हर मिनट किसी आदमी या किसी काम के लिए निश्चित होता था। कभी-कभी सवेरे का टहलने का समय भी किसी मुलाकाती—विशेषकर विदेशी मुलाकाती—को या किसी ऐसे मित्र को दे दिया जाता था जो उनसे व्यक्तिगत परामर्श करने के लिए आता था। हम भूत, वर्तमान और विशेषरूप से भविष्य के संबंध में बहुत-सी बातें करते थे। मुझे याद है कि एक दिन उन्होंने कांग्रेस के भविष्य के संबंध

में अपना विचार बता कर मुझे चकित कर दिया था। मैं सोचा करता था कि स्वतन्त्रता मिल जाने पर कांग्रेस का कांग्रेस के रूप में आप-से-आप अंत हो जायेगा। किंतु उनका विचार यह था कि कांग्रेस को रहना चाहिए, लेकिन एक शर्त पर— वह यह कि कांग्रेस अपने लिए एक आत्मत्याग का कानून बना ले और यह निश्चय कर ले कि उसका एक भी सदस्य राज्य की अधीनता में कोई वैतनिक पद स्वीकार नहीं करेगा और यदि कोई व्यक्ति राज्य में किसी अधिकारी का पद ग्रहण करना चाहेगा तो उसे कांग्रेस से अलग हो जाना पड़ेगा। इस समय मुझे ठीक से याद नहीं कि उन्होंने यह बात किस-किस तरह से समझाई, किंतु उनका असली मन्तव्य यह था कि कांग्रेस अपने आत्मत्याग के बल पर और चिंताहीन रहकर सरकार के कार्य-कारी और अन्य विभागों पर बड़ा जबर्दस्त नैतिक दबाव डाल सकती है और उन्हें ठीक मार्ग पर रख सकती है।

यह एक असाधारण विचारधारा है, जिसे ग्रहण करना मेरे लिए मुश्किल है और जिससे अनेक कठिनाइयां उत्पन्न हो सकती हैं। मुझे ऐसा लगता है कि इस तरह की संस्था का (यदि उसकी कल्पना की जाय तो) किसी-न-किसी विशेष स्वार्थ वाले व्यक्ति द्वारा दुरुपयोग अवश्य होगा। किंतु यदि हम इसकी व्याव-हारिकाता के प्रश्न को छोड़ भी दें तब भी हमें इससे गांधीजी की विचारधारा की पृष्ठभूमि को कुछ-कुछ समझने में सहायता अवश्य मिलती है।

जनतन्त्र

गांधीजी के जनतन्त्र-विषयक विचार का जनसंख्या, बहुमत अथवा साधारण अर्थ में प्रतिनिधित्व से कोई संबंध नहीं है। उसका आधार सेवा और त्याग है और उसमें नैतिक दबाव का प्रयोग होता है। गांधीजी का दावा है कि मैं "जन्म से ही जनतन्त्री हूं।" अगर यह दावा अपने को गरीब-से-गरीब जनता के साथ पूरी तरह से मिला देने, उससे अच्छा जीवन बिताने की आकांक्षा न रखने और साथ-ही-साथ

उसके स्तर तक पहुंचने की भरसक चेष्टा करने के बल पर कर सकता हूं तो मैं भी वह दावा करता हूं।" यही गांधीजी की जनतन्त्रवादी की परिभाषा है। वह आगे कहते हैं:

"हमें यह बात समझ लेनी चाहिए कि कांग्रेस को जनतन्त्रीय रूप और प्रभाव प्राप्त करने का सौभाग्य इसलिए नहीं मिला है कि उसके वार्षिक अधिवेशनों में बहुत से प्रतिनिधि और दर्शक आते हैं। बल्कि इसलिए कि वह जनता की दिन-पर-दिन अधिक सेवा करती रही है। पश्चिमी जनतन्त्र यदि असफल सिद्ध नहीं हो चुका है तो इसमें संदेह नहीं कि उसकी अग्नि परीक्षा हो रही है। ईश्वर करे कि जनतन्त्र के सच्चे विज्ञान को जन्म देने का श्रेय भारत को मिले और वह उसकी सफलता का खुला प्रदर्शन कर सके।

"भ्रष्टाचार और पाखंड जनतन्त्र के अनिवार्य परिणाम नहीं होने चाहिए, जैसे कि वे आजकल निस्संदेह हैं। जनतन्त्र का सच्चा प्रमाण संख्या से नहीं मिलता। सच्चे जनतन्त्र मे ऐसे व्यक्तियो की कम सख्या का होना असंगत नहीं है जो जनता की अन्तर्भावना, आशा और महत्त्वाकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करते हों। मेरा मत है कि जनतन्त्र का विकास जोर जबरदस्ती से नहीं हो सकता। जनतन्त्र की भावना ऊपर से नहीं लादी जा सकती। उसका उद्गम अन्तर से ही होता है।"

निश्चय ही यह जनतन्त्र पश्चिमी जनतन्त्र नहीं है, जैसा कि गांधीजी स्वयं कहते हैं। फिर भी इसमें और साम्यवादी विचारधारा में कुछ समानता अवश्य है। ऐसे साम्यवादी बहुत ही कम है जो जनसाधारण की असली जरूरतों और इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करने का दावा कर सकते हो, चाहे जनसाधारण स्वयं भी उनसे अनभिज्ञ क्यो न हो। फिर भी यह समानता नाममात्र को ही है। सच पूछिये तो दोनो के दृष्टिकोण में जो अन्तर है वह इस समानता से कहीं अधिक है—विशेषतः कार्य-पद्धतियों और हिंसा के प्रयोग के संबंध में।

गांधीजी जनतन्त्रवादी हों या न हों, इसमें संदेह नहीं कि वह भारत की किसान

जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं। वह इन लाखो किसानों की चेतनापूर्ण और अर्द्ध चेतनापूर्ण आकाक्षा के सार हैं। यह शायद प्रतिनिधित्व से भी कुछ अधिक ही है, क्योकि गाधीजी उनकी आदर्शपूर्ण प्रतिमूर्त्ति हैं। फिर भी वह एक साधारण किसान नहीं हैं। कुशाग्रतम बुद्धि, सुन्दर भाव, उत्तम पसन्द और विस्तृत दृष्टिकोण, अतिशय मानुषिक; फिर भी एक ऐसा सत जिसने अपनी लालसाओ और भावनाओं को कुचल दिया है, उन्हे अपना दास बनाकर आत्मिक प्रवाह में डाल दिया है; एक जबर्दस्त व्यक्तित्व जो लोगो को चुम्बक की तरह अपनी ओर खींच लेता है और उनमें वफादारी व प्रेम की उत्कट भावनाए जाग्रत कर देता है—ये हैं उसके गुण जो एक किसान से बिलकुल भिन्न और परे हैं। लेकिन इस सब बातो के होते हुए भी वह सबसे बड़ा किसान है; उसका जीवन संबंधी दृष्टिकोण किसानो जैसा है और वह किसानो जैसे ही अपनी आंखें जीवन के कुछ पहलुओ की ओर से बन्द रखता है। लेकिन भारत किसानों का भारत है और इसलिए वह अपने भारत को खूब अच्छी तरह से जानता है, उसके हलके-से-हलके स्पन्दन को अनुभव करता है, स्थिति को ठीक-ठीक और अन्त प्रेरणा से ही समझ लेता है। उसमें अनुकूल मनोवैज्ञानिक अवसर पर कार्य करने का अद्भुत कौशल है।

ब्रिटिश सरकार ही नहीं, बल्कि भारतीय जनता और अपने निकटतम साथियों तक के लिए गांधीजी एक समस्या और एक पहेली थे। शायद दूसरे सभी देशों में आज वह असंगत मालूम दे, किंतु भारत आज भी पाप, मोक्ष और अहिंसा की बात करने वाले इस भविष्यवक्ता और धार्मिक व्यक्ति को समझता या पसंद करता है। भारत की पौराणिक गाथाएं ऐसे साधु-संन्यासियो की कहानियो से भरी पड़ी हैं, जिन्होंने अपने त्याग और अपनी तपस्या के बल पर इतनी सामर्थ्य प्राप्त कर ली कि उससे छोटे-छोटे देवताओ के सिंहासन हिल उठे और स्थापित व्यवस्था अस्तव्यस्त हो गई। गाधीजी की आश्चर्यजनक स्फूर्ति और आंतरिक शक्ति को मानों किसी अनन्त आध्यात्मिक स्रोत से प्रवाहित होते देखकर मुझे अक्सर इन गाथाओं का

स्मरण हो आया है। निश्चय ही वह इस संसार के एक साधारण व्यक्ति नहीं थे, वह एक बिलकुल भिन्न और दुर्लभ सांचे में ढले हुए मानव थे और अक्सर उनकी आंखों में से कोई अज्ञात वस्तु हमें घूरती प्रतीत होती थी।

किसानों की छाप

भारत—देहाती भारत नहीं बल्कि शहरी और औद्योगिक भारत—पर भी किसानों की छाप है। अतः यह स्वाभाविक ही था कि भारतमाता अपने उस पुत्र को, जो उससे इतना मिलता-जुलता है किंतु फिर भी भिन्न है, अपना आराध्य और प्यारा नेता बनाती। उसने पुरानी और अर्द्धविस्मृत स्मृतियां जाग्रत कर दीं और भारतमाता को उसकी आत्मा का दर्शन करा दिया। वर्त्तमान की अंधकार-पूर्ण विपदाओं में दबकर उसने विवशतापूर्ण वाणी और भूत तथा भविष्य के अनिश्चित-से स्वप्न बनाने में ही अपनी आत्मा को संतोष देना चाहा। किंतु गांधी ने आकर उसके मस्तिष्क को आशाओ से भर दिया, उसके क्षत-विक्षत शरीर को बल प्रदान किया और भविष्य एक आकर्षक दृश्य बन गया। जानस* की तरह द्विमुखी बनकर उसने पीछे अतीत की तरफ और आगे भविष्य की ओर भी देखा और दोनो का एकीकरण करने का प्रयत्न किया।

हममें से बहुत-से लोग इस कृषक दृष्टिकोण से अलग हट गये थे और पुराने ढंग के विचारों, रीति-रिवाज तथा धर्म को अपने लिए विदेशी समझने लगे थे। हम अपने को आधुनिक कहा करते थे और सब बातों को उन्नति, औद्योगीकरण, उच्चतर जीवन-मान तथा समूहवाद के दृष्टिकोण से देखा करते थे। हम किसानों के दृष्टिकोण को प्रतिगामी समझते थे और हममें से कुछ लोग, जिनकी कि संख्या बढ़ रही है, समाजवाद और साम्यवाद का पक्ष लेने लगे। तो फिर हमने गांधीजी

---

* जानस एक ग्रीक देवता है, जिसके दो मुख होते हैं। एक आगे और दूसरा पीछे देखता है। —संपादक

के साथ अपना राजनैतिक संबंध कैसे जोड़ा और किस तरह हममें से बहुत से लोग उनके कट्टर अनुयायी बन गये। इसका उत्तर आसान नहीं है और जो आदमी गांधीजी को नहीं जानता वह तो किसी के भी उत्तर से संतुष्ट नहीं हो सकता। व्यक्तित्व की परिभाषा नहीं की जा सकती। वह एक विचित्र शक्ति है, जिसका मनुष्य की आत्मा पर प्रभुत्व होता है। इस शक्ति की गांधीजी में बहुलता है और जो लोग उनसे मिलने आते हैं उन्हे वह एक बिलकुल भिन्न रूप में दिखाई पड़ते हैं। वह लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर लेते थे,किंतु अन्ततः यह इन लोगो का बौद्धिक विश्वास ही था जो उन्हे गांधीजी के पास ले आता था और वहां बनाये रखता था। वे उनके जीवन संबंधी दर्शन या कितने ही आदर्शों से भी सहमत नहीं होते थे। अक्सर वे उन्हे समझते भी नहीं थे। किंतु गांधीजी ने जो काम बताया वह ऐसा था जो समझ में आ सकता था और पसन्द भी किया जा सकता था। इतने दिनो की लंबी निष्क्रियता के बाद, जिसका हमारी राजनीति ने पोषण किया था, किसी भी प्रकार की क्रियाशीलता प्रिय हो सकती थी। ऐसी दशा में नैतिक प्रभा से चमकते हुए वीरतापूर्ण और उपयोगी कार्य में मस्तिष्क और हृदय को छूनेवाली एक दुर्दमनीय अपील का होना स्वाभाविक था। धीरे-धीरे उन्होने हमें विश्वास दिला दिया कि यह एक ठीक कार्य है और यद्यपि हमने उनके अध्यात्म को स्वीकार नहीं किया तथापि हम उनके साथ-साथ चले। कार्य को उसकी अन्तर्भूत भावना से पृथक् रखना शायद एक मुनासिब तरीका नही था और बाद में उससे मानसिक संघर्ष तथा कष्ट का उत्पन्न होना अनिवार्य था। कुछ अनिश्चित रूप से हम यह आशा करते रहे कि गाधीजी, जो प्रधानतः एक कर्मशील व्यक्ति थे और जिन पर बदलती हुई स्थितियो का बडा प्रभाव पड़ता था, उसी मार्ग पर बढ़ेंगे जिसे हम ठीक समझते हैं। कुछ भी हो, वह जिस मार्ग का अनुसरण कर रहे थे वह उस समय तक ठीक था और यदि भविष्य में मतभेद हो भी तो उसकी पहले से ही आशंका करना मूर्खता होती।

इन सब बातों से सिद्ध हो जाता है कि हमारे विचार साफ और निश्चित नहीं थे। हमारी भावना सदा यही थी कि अगर हम अधिक तर्कसंगत हैं तब भी गांधीजी भारत को हमसे ज्यादा जानते हैं और जो आदमी जनता की इतनी जबर्दस्त श्रद्धा और वफादारी हासिल कर सकता है उसमें अवश्य ही उस जनता की आवश्यकताओं और आकांक्षाओ से सामंजस्य रखने की कोई बात होगी। हम सोचते थे कि यदि हम उनको विश्वास दिला सकते हैं तो जनता को भी बदल सकते हैं और उन्हें विश्वास दिलाना संभव मालूम होता था, क्योंकि अपने कृषक-दृष्टिकोण के बावजूद वह जन्म से ही विद्रोही थे। वह एक क्रांतिकारी थे, उन्होंने महान् परिवर्तनो के लिए कमर कस रखी थी और वह परिणाम से भयभीत होकर कभी रुकते नहीं थे।

'दासों के प्यारे कर्णधार'

गांधीजी ने आलसी और भ्रष्ट जनता को अनुशासित और कर्मण्य बनाया—किसी प्रकार का दबाव डालकर या आर्थिक प्रलोभन दिखाकर नहीं, बल्कि अपनी नम्र दृष्टि, अपने कोमल वचन, और इनसे भी अधिक अपने व्यक्तिगत दृष्टांत से। मुझे याद है कि सन् १९१९ में अर्थात् सत्याग्रह के आरंभिक दिनो में बंबई के उमर सोबानी ने उन्हे 'दासों के प्यारे कर्णधार' कहकर पुकारा था। तब से १२ साल बाद के समय में बड़ी-बड़ी बातें हो गई थीं। उमर इन परिवर्तनो को देखने के लिए जीवित नहीं रहे थे, किंतु हम, जो कि उनसे अधिक सौभाग्यशाली थे, १९३१ के उन आरंभिक महीनों से अतीत को हर्ष और अभिमान से देख रहे थे। १९३० का साल हमारे लिए सचमुच ही एक बड़ा आश्चर्यजनक साल था और ऐसा मालूम होता था जैसे गांधीजी ने अपने जादू के डंडे से देश का रूप ही बदल दिया है। हममें से कोई भी आदमी यह सोचने की मूर्खता नहीं करता था कि हमने ब्रिटिश सरकार पर अंतिम विजय प्राप्त कर ली है। हमारे हर्ष की भावना का सरकार से

कोई संबंध नहीं था। हमें अपनी जनता पर अभिमान था—अपनी महिलाओं पर, अपने नौजवानों पर, और अपने बच्चों पर उनके उन कार्यों के लिए जो उन्होंने आंदोलन के दिनों में किये थे। वह एक ऐसा आत्मिक लाभ था जो किसी भी समय और किसी के लिए भी बहुमूल्य हो सकता था। हम गुलामों और पददलितों के लिए तो उसका दुगुना मूल्य था और हम इस बात के लिए प्रयत्नशील थे कि कोई ऐसी बात न होने पाये जिससे यह लाभ हमसे छिन जाय।

जहां तक मेरा अपना सवाल है, गांधीजी की मुझ पर सदा बड़ी कृपा रहती थी और मेरे पिताजी की मृत्यु ने तो उन्हें विशेष रूप से मेरे निकट ला दिया था। मुझे जो कुछ भी कहना होता था उसे उन्होंने बड़े धैर्य के साथ सुना था और मेरी इच्छाओं को पूरा करने की भरसक चेष्टा की थी। इससे मैं यह सोचने लगा था कि शायद मैं और कुछ अन्य साथी उन्हें लगातार प्रभावित कर समाजवादी दिशा में खींच कर ले जा सकें। उन्होंने खुद कहा था कि जैसे-जैसे उनकी समझ में आता जायगा वैसे-वैसे वह उधर धीरे-धीरे बढ़ते जायेंगे। उस समय मुझे यह बात प्रायः अनिवार्य-सी मालूम होती थी कि वह समाजवाद के बुनियादी सिद्धांतों को अंगीकार कर लेंगे, क्योंकि मुझे उस समय की हिंसा, अन्याय, बर्बादी और विपदा से बचने की कोई और सूरत नहीं दिखाई देती थी। समाजवाद की कार्य-पद्धति से वह असहमत हो सकते थे, किंतु उसके आदर्श से नहीं। उन दिनों मैं ऐसा ही सोचा करता था, किंतु अब समझ गया हूं कि गांधीजी के विचारों और समाजवादी दृष्टिकोण में बुनियादी भेद है।

दिल्ली का समझौता

४ मार्च की रात को हम लोग आधी रात तक गांधीजी के वाइसराय भवन से लौटने की प्रतीक्षा करते रहे। वह दो बजे लौटे और हमें जगाकर बताया गया कि समझौता हो गया है। हमने उस समझौते का मसविदा देखा। मैं उसकी अधिकांश

धाराओं को जानता था, क्योंकि उस पर अक्सर वादविवाद हुआ था, किंतु ऊपर ही धारा २* को देखकर मुझे जबर्दस्त धक्का लगा। उसमें संरक्षण आदि का उल्लेख था। मैं उसके लिए बिलकुल तैयार नहीं था। उस समय मैंने कुछ नहीं कहा और हम सब सो गये।

कुछ और कहने सुनने का सवाल ही नहीं था। काम हो चुका था और हमारा नेता अपना वचन दे चुका था। यदि हम उनसे असहमत भी थे तो कर क्या सकते थे? उन्हें हटा देते? उनसे संबंध तोड़ लेते? अपने मतभेद की घोषणा करते? ऐसा करने से किसी व्यक्ति विशेष को कुछ वैयक्तिक संतोष हो सकता था, किंतु उसका अंतिम निर्णय पर कुछ असर नहीं पड़ता। कम-से-कम उस समय के लिए तो सविनय अवज्ञा आंदोलन समाप्त कर ही दिया गया था और जब कि सरकार यह कह सकती थी कि गांधीजी ने समझौता कर लिया है तो कार्य समिति उस आंदोलन को आगे नहीं बढ़ा सकती थी। अपने दूसरे साथियों की तरह मैं भी इस आंदोलन को स्थगित कर सरकार से अस्थायी समझौता करने के लिए तैयार था। हमारे लिए यह काम आसान नहीं था कि हम अपने साथियों को फिर जेल भेज दें या जो हजारों लोग जेल में थे उनके वहीं रह जाने का कारण बनें। कैद कोई ऐसी

*५ मार्च, १९३१ के दिल्ली समझौते की धारा २ इस प्रकार है—"जहां तक वैधानिक प्रश्नों का सवाल है, ब्रिटिश सरकार की अनुमति से भावी विचार-विनिमय के क्षेत्र का इसलिए उल्लेख किया जा रहा है कि गोलमेज कान्फ्रेंस में वैधानिक भारत सरकार की जिस योजना पर विचार किया गया था, उस पर आगे विचार किया जा सके। उसमें जो योजना दी गई है, 'संघ' उसका अनिवार्य अंग है। यही बात भारतीय उत्तरदायित्व और भारत के हित में ऐसी बातों के संरक्षण के संबंध में है जैसे सुरक्षा, विदेशी मामले, अल्पसंख्यकों की स्थिति, भारत की आर्थिक मर्यादा और उत्तरदायित्वों की पूर्ति।

सुन्दर जगह नहीं है जहा जिंदगी बिताई जाय, यद्यपि हममें से कुछ लोग अपने को उसके लिए तैयार कर सकते है और उसकी घातक दिनचर्या की ओर से लापरवाही व्यक्त कर सकते है। इसके अलावा गाधीजी और लार्ड इर्विन के बीच तीन सप्ताह या उससे भी अधिक दिनो तक बातचीत चलते रहने से देश भर को यह आशा होने लगी थी कि समझौता होने ही वाला है। इस अवस्था पर आकर अगर समझौते की वार्त्ता टूट जाती तो सब को बड़ी निराशा होती। इसलिए कार्यसमिति के सभी सदस्य निश्चय ही एक अस्थायी समझौते के पक्ष में थे---अस्थायी समझौते से अधिक वह हो भी क्या सकता था---बशर्ते कि उससे हमारी कोई महत्त्वपूर्ण पराजय न होती।

दो बातें ऐसी थी जिनमें मुझे सबसे ज्यादा दिलचस्पी थी। उनमे से एक यह थी कि हमारी स्वतन्त्रता की माग किसी तरह भी ढीली न की जाय और दूसरी यह कि समझौते का युक्त प्रात के गांवो पर क्या असर पडेगा। गांधीजी ने यह बात लार्ड इर्विन से बिलकुल साफ कर दी थी। सरकार जो कर मागती थी उसे देने में किसान असमर्थ थे। गांधीजी ने कह दिया था कि यद्यपि कर-विरोधी आंदोलन बन्द कर दिया जायेगा तथापि हम किसानो को अपनी सामर्थ्य से अधिक देने की सलाह नहीं दे सकते।

हमारे लक्ष्य---अर्थात् स्वतन्त्रता का भी प्रश्न था। मैंने देखा कि समझौते की धारा २ के कारण यह उद्देश्य भी संकट में पड़ गया है। क्या यही चीज थी जिसके लिए हमारी जनता ने एक साल तक इतनी बहादुरी के साथ काम किया था? क्या वीरता से भरी हुई हमारी सारी बातों और हमारे सारे कार्यों का यही अत होने वाला था? क्या इसके लिए कांग्रेस का स्वतन्त्रता-विषस प्रस्ताव पास किया गया था और क्या इसी के लिए २६ जनवरी की प्रतिज्ञा इतनी बार दुहराई गई थी? उस रात में लेटा-लेटा इन्हीं बातों पर विचार करता रहा और मुझे अपने हृदय में एक बहुत बड़े सूनेपन का अनुभव होता रहा, मानों कोई बहुमूल्य वस्तु खो गई है

और उसके वापस मिलने की आशा नहीं रह गई है।

समार का अंत इसी ढग से होता है।
धमाके के साथ नही बल्कि मद रुदन के साथ !

किसी और जरिये से गांधीजी को मेरे इस क्षोभ का पता लग गया और उन्होंने मुझे अगले दिन टहलने के समय अपने साथ चलने को कहा। उस दिन हमारी उनकी बड़ी देर तक बातें हुई और उन्होंने मुझे यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया कि हमने कोई भी महत्त्वपूर्ण चीज नहीं खोई है और न हमारी कोई सैद्धांतिक पराजय ही हुई है। उन्होने समझौते की धारा २ की व्याख्या एक ऐसे विशेष ढंग से की जिससे वह हमारी स्वतन्त्रता की माग के अनुकूल प्रतीत होने लगे। उनका तर्क मुख्यतः 'भारत के हित में' शब्दो पर आधारित था। मुझे उनकी व्याख्या एक जबरदस्ती की व्याख्या मालूम हुई और मुझे संतोष नहीं हुआ, यद्यपि उनकी बातों ने मुझे शांत अवश्य कर दिया। समझौते की अच्छाइयों की बात तो अलग रही मैंने उनसे कहा कि हम लोगो को एकाएक अचम्भे में डाल देने की आपकी जो रीति है उससे मुझे भय लगता है। उनमें कोई ऐसी अज्ञात वस्तु थी जिसे १४ साल के निकटतम संपर्क के बाद भी मैं बिलकुल नहीं समझ पाया था और जो मुझे भयभीत कर दिया करती थी। उन्होने स्वीकार किया कि उनमें ऐसी कोई वस्तु है, किंतु कहा कि मैं खुद इसका कोई जवाब नहीं दे सकता और न यह भविष्यवाणी ही कर सकता हूं कि उसका क्या परिणाम निकलेगा।

एक दो दिन तक मैं इसी तरह विचलित रहा और समझ में नहीं आता था कि क्या करू। उस समय समझौते का विरोध करने या उसे रोकने का कोई प्रश्न नहीं था। वह अवस्था तो बीत चुकी थी और मैं इतना ही कर सकता था कि व्यवहार में उसे स्वीकार करते हुए सैद्धांतिक रूप से उससे अपने को अलग कर लूं। उससे मेरा अपना अहंकार तो शांत हो जाता, किंतु देश के बड़े प्रश्न के समाधान में कोई सहायता नहीं मिलती। इसलिए मैंने सोचा कि क्या यह अच्छा नहीं होगा

कि जो कुछ हो चुका है उसे मैं शिष्टतापूर्वक स्वीकार कर लूं और उसकी अधिक-से-अधिक अनुकूल व्याख्या करूं जैसा कि गांधीजी ने किया था ? समझौते के फौरन बाद ही उन्होंने अखबारनवीसों से मुलाकात करते हुए इसी व्याख्या पर जोर दिया था और कहा था कि हम अब भी अपनी स्वतन्त्रता की मांग पर दृढ़ हैं। लार्ड इर्विन के पास जाकर उन्होंने इस बात का स्पष्टीकरण भी कर लिया ताकि उस समय और भविष्य में कोई गलतफहमी न होने पाये। उन्होंने लार्ड इर्विन से यह भी कह दिया कि अगर कांग्रेस गोलमेज कांफ्रेंस में अपना कोई प्रतिनिधि भेजेगी तो इसी आधार पर इसी मांग को प्रस्तुत करने के अभिप्राय से भेजेगी। लार्ड इर्विन इस दावे को स्वीकार तो नहीं कर सके, लेकिन उन्होंने यह मान लिया कि कांग्रेस को उसे प्रस्तुत करने का अधिकार है।

इसलिए मैंने समझौते को स्वीकार करने और उसके लिए पूरी लगन के साथ काम करने का निश्चय किया, यद्यपि ऐसा करने में मुझे काफी मानसिक संघर्ष और शारीरिक क्षोभ का सामना करना पड़ा। मुझे कोई बीच का रास्ता ही नहीं दिखाई देता था।

समझौते से पहले और उसके बाद भी गांधीजी को लार्ड इर्विन से जो मुलाकातें हुई थीं उनमें उन्होंने सविनय अवज्ञा से संबंध न रखने वाले सभी राजनैतिक कैदियों को छोड़ देने पर जोर दिया था। सविनय अवज्ञा के कैदी तो समझौते की शर्त के अनुसार रिहा होने वाले थे ही, लेकिन उनके सिवा हजारों और कैदी भी थे, जिनमें से कुछ तो अदालती कार्रवाई के बाद कैद की सजा मिली थी और कुछ ऐसे थे जो बिना किसी आरोप, अदालती कार्रवाई या सजा के ही नजरबन्द थे। इनमें से अनेक तो कई वर्षों से ऐसे ही नजरबन्द चले आ रहे थे और इस तरह बिना मुकदमा चलाये ही कैद में रखने की प्रणाली पर सारे भारतवर्ष—और खास तौर से बंगाल में जहां कि इसका सबसे ज्यादा असर पड़ा था—अतिशय क्रोध की भावना फैली हुई थी। गांधीजी ने इनकी रिहाई की पैरवी की थी और कहा था कि सम-

झौते की शर्तों के मुताबिक न सही, कम-से-कम बंगाल में राजनीतिक तनाव को कम करने और वहां अधिक शांतिपूर्ण वातावरण स्थापित करने के लिए इन कैदियों की रिहाई अत्यंत अपेक्षणीय है। किंतु सरकार इसे मानने को तैयार नहीं थी।

कराची-कांग्रेस

कराची की कांग्रेस गांधीजी के लिए पहले की सभी कांग्रेसों से बड़ी व्यक्तिगत विजय थी। उसके अध्यक्ष, सरदार वल्लभभाई पटेल, भारत के सबसे अधिक लोकप्रिय और शक्तिशाली व्यक्तियों में से थे और उन्हें गुजरात में सफल नेतृत्व की प्रतिष्ठा भी प्राप्त हो चुकी थी; फिर भी उस अधिवेशन के प्रधान व्यक्ति महात्माजी ही थे।

इस अधिवेशन का मुख्य प्रस्ताव दिल्ली-समझौते और गोलमेज कान्फ्रेंस के संबंध में था। चूंकि यह प्रस्ताव कार्यसमिति की ओर से रखा गया था, इसलिए मैंने उसे स्वीकार कर लिया, किंतु जब गांधीजी ने मुझसे उसे कांग्रेस के खुले अधिवेशन में उपस्थित करने को कहा तो मैंने आनाकानी की। यह मेरे स्वभाव के विरुद्ध था, इसलिए मैंने मना कर दिया। पर बाद में मैंने सोचा कि यह स्थिति तो एक दुर्बल और असंतोषजनक स्थिति है। मुझे या तो इसके पक्ष में रहना है या इसके विरुद्ध; इस मामले में जनता को अनिश्चय में छोड़ना उचित नहीं। अतः बिलकुल अंतिम समय पर, प्रस्ताव के खुले अधिवेशन में प्रस्तुत किये जाने से कुछ ही मिनट पहले, मैंने उसे उपस्थित करने का निश्चय किया। अपने भाषण में मैंने उस विशाल जन-समुदाय के सामने अपने मन की बात साफ-साफ रख देने की कोशिश की। यह बताते हुए कि मैंने उस प्रस्ताव को क्यों स्वीकार किया है जनता से भी उसे स्वीकार करने की प्रार्थना की। वह भाषण, जो कि तात्कालिक आवेश में दिया गया था और हृदय के अन्तरतम प्रदेश से निकला था और जिसमें बहुत ही कम अलंकार और शब्दाडम्बर था, मेरे पहले के उन सभी भाषणों से अधिक सफल था जिन्हें मैंने ज्यादा सावधानी से तैयार करने के बाद दिया था। मैं दूसरे

प्रस्तावो पर भी बोला—विशेष रूप से भगतसिंह सबधी प्रस्ताव और बुनियादी अधिकारो तथा आर्थिक नीति के प्रस्ताव पर ।

किंवदति यह है कि इस प्रस्ताव को—या कम-से-कम उसके एक बड़े भाग को—साम्यवाद से सहानुभूति रखनेवाले किसी रहस्यपूर्ण व्यक्ति ने तैयार किया था और कराची में उसे मुझ पर डाल दिया था, जिसके बाद मैंने गांधीजी को चुनौती दी थी कि या तो इसे स्वीकार कीजिये या दिल्ली समझौते के प्रश्न पर मेरे विरोध का सामना कीजिये और इस पर गाधीजी ने मुझे शांत करने के लिए प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया था तथा उसे विषय-समिति के थकेमादे सदस्यो के गले उतार कर आखीरी दिन कांग्रेस पर लाद दिया था ।

जहा तक गांधीजी का सवाल है, मुझे उन्हे काफी घनिष्टता के साथ जानने का सौभाग्य मिला है और उन्हे चुनौती देने या उनसे सौदा करने का विचार मुझे पैशाचिक मालूम होता है। हम एक दूसरे के लिए अपने हृदय मे स्थान निकाल सकते हैं या किसी विशेष मामले में एक दूसरे से पृथक् भी हो सकते हैं, किन्तु हमारे पारस्परिक व्यवहार में कभी बाजारू तरीको का प्रयोग नहीं हो सकता ।

: ४ :

जेल-जीवन मे बम-विस्फोट

सितंबर १९३२ के मध्य में हमारे शांत और नीरस जेल-जीवन में सहसा बम-विस्फोट हुआ। समाचार मिला कि रैमजे मैक्डोनैल्ड ने अपने सांप्रदायिक निर्णय में दलित जातियो को पृथक् निर्वाचन का जो अधिकार दिया है उसके विरोध में गांधीजी ने आमरण अनशन करने का निश्चय किया है। जनता के हृदय को एका-एक धक्का पहुंचाने की उनमें कैसी अपूर्व क्षमता थी ! सहसा मेरे मस्तिष्क में सभी प्रकार के विचार दौड़ गये। मेरे आंखो के सामने सभी तरह की संभावनाएं और संकटकालीन आवश्यकताएं नाच उठी और उनसे मेरे चित्त का संतुलन बिल-कुल नष्ट हो गया। दो दिन तक मै पूर्ण अंधकार मे रहा और उससे बाहर निकलने के लिए मुझे कहीं प्रकाश नही दिखाई दिया। गाधीजी के इस कार्य के परिणामो को सोचकर तो मेरा दिल बैठने लगता था। व्यक्तिगत रूप से भी चिंता कुछ कम नहीं थी। मुझे यह सोचकर बड़ी मानसिक वेदना होती थी कि शायद अब मैं उन्हें न देख सकूं। आखिरी बार मैंने उन्हे इंगलैण्ड जाते समय जहाज पर देखा था और उसको एक वर्ष हो गया था। क्या वही उनका अंतिम दर्शन सिद्ध होने वाला था ?

और तब मुझे इस बात पर बड़ी झुंझलाहट हुई कि उन्होने अपने अंतिम उत्सर्ग के लिए एक गौण समस्या चुनी है। इसका हमारे स्वतन्त्रता संग्राम पर क्या असर पड़ेगा ? क्या इसके कारण, कम-से-कम कुछ समय के लिए, बड़े-बड़े प्रश्न पृष्ठ-भूमि में नहीं पड़ जायेंगे ? और यदि वह अपने तत्कालीन उद्देश्य मे सफल भी हो

गये और दलित जातियो के लिए संयुक्त निर्वाचन-प्रणाली स्वीकार भी करा ली तो क्या उसकी प्रतिक्रिया नहीं होगी और लोगो में यह भावना जड़ नहीं पकड़ लेगी कि थोड़ा-बहुत तो मिल ही गया है, अब कुछ समय के लिए कुछ और करने की आवश्यकता नहीं ? और क्या उनका यह काम सरकार द्वारा समर्पित सांप्रदायिक निर्णय और दूसरी आम योजनाओ को नियमित मानाने या अंशतः स्वीकार करने के बराबर नहीं होगा ? क्या उनका यह कार्य असहयोग और सविनय अवज्ञा आंदोलन से सामंजस्य रखता है ? इतने त्याग और वीरतापूर्ण प्रयत्नो के बाद क्या हमारा आंदोलन किसी अज्ञात वस्तु में विलीन हो जाने वाला है ?

गांधीजी के इस प्रकार एक राजनैतिक प्रश्न पर धार्मिकता और भावुकता के धरातल से विचार करने और उस संबंध में बार बार ईश्वर का उल्लेख करने पर मुझे क्रोध आया। उन्होने तो यहां तक कहा कि ईश्वर ने उनके उपवास की वास्तविक तिथि तक का संकेत कर दिया है। वह लोगो के सामने कैसा भयंकर दृष्टात रख रहे थे !

अगर बापू मर गये तो भारत का क्या रूप होगा ? और उसकी राजनीति कैसे चलेगी ? हमे अपने सामने एक भयावना और अधकारपूर्ण भविष्य दिखाई दिया और जब मैने उस पर विचार किया तो मेरा मन निराशा से भर गया।

इस प्रकार जब मेरे मस्तिष्क में हलचल मची हुई थी, मैं क्रोध और निराशा लिये और जिस व्यक्ति ने यह उथल पुथल मचायी थी उसके लिए मन में प्रेम छिपाये बराबर सोचता रहा। मेरी समझ में नहीं आता था कि क्या करूं और मैं सबके साथ---सबसे अधिक अपने साथ---चिड़चिड़ा बन गया था।

उपवास का जादू

और तब मेरे साथ एक अजीब बात हुई। जिस मानसिक संकट ने एकाएक मुझे घेर लिया था उसका शमन हो जाने पर मुझे अपेक्षाकृत शांति का अनुभव हुआ

और भविष्य मुझे उतना अंधकारपूर्ण नहीं दिखाई दिया। बापू में परिपक्व मनोवैज्ञानिक अवसर पर समयोचित कार्य करने की अद्भुत कुशलता थी और संभव था कि उनके उपवास का—जिसका कि मैं उस रूप में अपने दृष्टिकोण से समर्थन नहीं कर सकता था—केवल उसके सीमित और संकुचित क्षेत्र में नहीं, बल्कि हमारे राष्ट्रीय संघर्ष के व्यापक क्षेत्र में ही बड़ा महत्त्वपूर्ण परिणाम निकलता। और, अगर बापू मर भी जाते तो हमारा स्वतन्त्रता-संग्राम आखिर चलता ही रहता। इसलिए जो भी हो हमें अपने को तैयार और स्वस्थ रखना था। गांधीजी की मृत्यु तक का अविचलित रूप से सामना करने का निश्चय कर मैंने अपने को शांत सुस्थिर और संसार तथा समय के गर्भ में छिपी हुई संभावनाओं का सामना करने को तैयार पाया।

और तब देश भर में भयंकर उथलपुथल मचने का समाचार मिला; हिंदू समाज में उत्साह की एक जादू-जैसी लहर दौड़ गई और अस्पृश्यता का अंत निकट दिखाई दिया। मैंने सोचा कि यरवदा जेल में बैठा हुआ यह सूक्ष्म सा व्यक्ति कितना बड़ा जादूगर है और वह उस डोरी को खींचने में कितना प्रवीण है जो जनसाधारण के हृदय को हिला देती है।

मेरे पास गांधीजी का एक तार आया। जेल की सजा मिलने के बाद उनका यह पहला संदेश था और इतने दिनों बाद उनके पास से समाचार पाकर मुझे बड़ा सहारा मिला। तार में लिखा था—

"इन यातनापूर्ण दिनों में तुम सदा मेरी आंखों के सामने रहे हो। मैं तुम्हारी राय जानने को बड़ा उत्सुक हूं। तुम जानते हो कि मैं तुम्हारी राय को कितना मूल्यवान समझता हूं। स्वरूप के बच्चों और इन्दु से मिला था। इन्दु प्रसन्न और कुछ मोटी दिखाई देती थी। मैं भी ठीक हूं। तार से उत्तर दो। स्नेह।"

यह एक असाधारण किंतु गांधीजी के स्वभाव के बिलकुल अनुकूल बात थी कि उपवास का कष्ट उठाते समय और अपने अनेक कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी उन्होंने

मेरी लड़की का और मेरी बहन के बच्चों का अपने यहां आने का उल्लेख किया और यहां तक लिखा कि इन्दिरा मोटी हो गई है। (मेरी बहन भी उन दिनों जेल में थी और ये सब बच्चे पूना में एक स्कूल में थे।) वह जीवन की उन बातों को कदापि नहीं भूलते जो देखने में तो छोटी लगती हैं, किंतु वास्तव में जिनका अर्थ बहुत बड़ा होता है।

उसी समय मुझे यह भी समाचार मिला कि निर्वाचन प्रणाली के संबंध में कुछ समझौता हो गया है। जेल के सुपरिन्टेंडेंट ने कृपा करके मुझे गांधीजी को उत्तर भेजने की अनुमति दे दी और मैंने उन्हें यह तार दिया—

"आपके तार और साथ ही इस संक्षिप्त समाचार से कि किसी तरह का समझौता हो गया है, मुझे बड़ी राहत और खुशी हासिल हुई है। आपके उपवास के समाचार से पहले मुझे बड़ी मानसिक पीड़ा और उलझन हुई, किंतु अन्त में आशा की विजय हुई और मेरे चित्त की शांति लौट आई। दमन के शिकार पददलितों के लिए जो भी त्याग किया जाय थोड़ा है। स्वतन्त्रता की परीक्षा तो निम्नतम श्रेणी के लोगों की ही स्वतन्त्रता के आधार पर होनी चाहिए, किन्तु भय है कि कहीं दूसरे प्रश्न हमारे एकमात्र लक्ष्य को आच्छादित न कर लें। मैं इस प्रश्न पर धार्मिक दृष्टिकोण से निर्णय करने में असमर्थ हूं। खतरा है कि कहीं दूसरे लोग आपके तरीकों से फायदा न उठावें, किंतु मैं एक जादूगर को सलाह देने की कल्पना भी कैसे कर सकता हूं। प्रेम।"

हरिजन-आंदोलन

पूना में जमा हुए विभिन्न लोगों ने एक पैक्ट (समझौते) पर हस्ताक्षर किये, जिसे ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने असाधारण स्फूर्ति के साथ स्वीकार कर अपने पहले निर्णय को पैक्ट के अनुसार बदल दिया और गांधीजी का उपवास भंग हो गया। ऐसे पैक्ट और समझौते मुझे बहुत नापसन्द थे, किंतु मैंने पूना-पैक्ट का हार्दिक स्वागत किया।

उत्तेजना कम हुई और हम एक बार फिर जेल के क्रम के अनुसार जीवन बिताने लगे। हरिजन-आंदोलन के समाचार मिलते रहे और गांधीजी जेल ही में बैठे-बैठे जो काम किया करते थे उनका भी पता चलता रहा, किंतु इनसे मुझे ज्यादा खुशी नहीं होती थी। यह तो ठीक है कि छुआछूत को दूर करने और दुःखी पददलित जातियों को ऊपर उठाने के आंदोलन को अद्भुत गति प्राप्त हो गई थी—पूना पैक्ट से उतनी नहीं जितनी कि सारे देश में व्याप्त एक धार्मिक युद्ध की लहर से। इस स्थिति का हमें स्वागत करना चाहिए था। किंतु यह भी स्पष्ट हो गया था कि सविनय अवज्ञा आंदोलन को क्षति पहुंची है। देश का ध्यान अन्य समस्याओं की ओर बंट गया था और कांग्रेसी कार्यकर्ता हरिजन-आंदोलन में लग गये थे। शायद उनमें से ज्यादातर लोग इस तरह के अधिक सरक्षित कामों में लगने का बहाना चाहते थे। जिनमें जेल जाने या (जो कि इससे भी बुरा था) लाठियां खाने और जायदाद के जब्त होने का भय न हो। यह स्वाभाविक भी था और यह सोचना उचित नहीं था कि हमारे हजारों कार्यकर्ता हर समय जबर्दस्त तकलीफें उठाने और अपने घरो के तोड़े-फोड़े तथा नष्ट किये जाने के लिए तैयार रहेंगे। फिर भी अपने महान् आंदोलन को इस प्रकार धीरे-धीरे विनष्ट होते देखना हमारे लिए कष्टदायक था। सविनय अवज्ञा का आंदोलन अब भी चल रहा था और कभी-कभी सामूहिक प्रदर्शन भी होते रहते थे; उदाहरण के लिए, कलकत्ता कांग्रेस, जो १९३३ के मार्च-अप्रैल के महीने में हुई थी। गांधीजी यरवदा जेल में थे, किंतु उन्हे कुछ लोगो से मिलने और हरिजन आंदोलन के लिए हिदायतें देने की कुछ विशेष रियायतें मिली हुई थीं। इससे उनका जेल में होना उतना नहीं अखरता था, किंतु इन सब बातों से मुझे खिन्नता होती थी।

इक्कीस दिनों का उपवास

कई महीनों बाद, मई १९३३ के आरंभ में गांधीजी ने अपना इक्कीस दिनों का

उपवास आरंभ किया। इस घटना के प्रथम समाचार से मुझे फिर धक्का लगा था, किंतु मैंने इसे एक अनिवार्य घटना के रूप में स्वीकार कर लिया और अपने को उसके लिए तैयार किया। मुझे इस बात पर झुंझलाहट मालूम होती थी कि जब गांधीजी एक बार उपवास करने का निश्चय कर चुके हैं और सार्वजनिक रूप से उसकी घोषणा भी कर चुके हैं तो लोग उन पर उसे त्यागने का जोर क्यों डालते हैं। उपवास की बात मेरी समझ में नहीं आया करती थी और यदि निश्चय करने से पहले मुझसे पूछा गया होता तो निश्चय ही मैंने उसका जोरों से विरोध किया होता। किंतु मैं गांधीजी के संकल्प को बड़ा महत्त्व दिया करता था और एक ऐसे निजी मामले में जिसका कि उनकी दृष्टि में बड़ा महत्त्व था, किसी का उनसे उस संकल्प को तोड़ने के लिए कहना मुझे बड़ा गलत मालूम होता था। इसलिए दुःखी होते हुए भी मैंने उसे सहन कर लिया।

उपवास आरम्भ करने से कुछ दिन पहले गांधीजी ने मुझे एक पत्र लिखा था जिसे पढ़कर मेरा जी भर आया। चूंकि उन्होंने उत्तर मांगा था, इसलिए मैंने उन्हें निम्नलिखित तार भेजा—

"आपका पत्र मिला। जिन मामलों को मैं नहीं समझता उनके संबंध में क्या कह सकता हूं। इस विचित्र देश में, जहां आप ही एकमात्र परिचित मार्गदर्शक हैं, मैं अपने को खोया-खोया-सा पाता हूं। मैं अंधकार में अपने मार्ग को ढूंढने का प्रयत्न करता हूं, किंतु ठोकर खाकर गिर पड़ता हूं। जो हो, मेरा प्रेम और मेरे विचार आपके साथ होंगे।"

मुझे उनका काम बिलकुल पसन्द नहीं था, किंतु मैंने अपनी इस भावना को भरसक दबाने का प्रयत्न किया। मैं उन्हें ठेस नहीं पहुंचाना चाहता था, फिर भी मैंने महसूस किया कि मेरा संदेश हर्षयुक्त नहीं है और अब जब कि उन्होंने इस भयंकर अग्नि-परीक्षा में से होकर गुजरने का संकल्प कर लिया है और संभव है कि इसमें उनकी जान तक चली जाय, मुझे भरसक उन्हें ढांढस बंधाना चाहिए।

मैं जानता था कि छोटी-छोटी बातों से मनोवैज्ञानिक परिवर्तन होता है और जिंदा रहने के लिए गांधीजी को अपने एक-एक स्नायु पर जोर डालना होगा। मैंने यह भी महसूस किया कि चाहे कोई भी घटना घटे—यहां तक कि यदि दुर्भाग्यवश उनकी मृत्यु तक हो जाय—तो भी हमें उसका दिलेरी के साथ सामना करना चाहिए। इसलिए मैंने उन्हें एक दूसरा तार भेजा—

"अब चूंकि आपने अपने महान् कार्य को आरंभ कर दिया है, मैं आपको एक बार फिर अपना प्रेम और अपनी बधाइयां भेजता हूं और इस बात का विश्वास दिलाता हूं कि यह अनुभूति अब मुझे पहले से अधिक स्पष्ट हो गई है कि जो कुछ भी होगा अच्छा ही होगा और उसमें आपकी विजय होगी।"

गांधीजी उपवास को पार कर गये। वह पहले ही दिन जेल से छोड़ दिये गये थे और उनकी सलाह पर सविनय अवज्ञा आंदोलन ६ सप्ताह के लिए स्थगित कर दिया गया।

एक नई चुनौती

यह बात एक तरफ साफ-साफ दिखाई दे रही थी कि लोगों में जांच-पड़ताल करने, सवाल पूछने और वर्तमान संस्थाओंको चुनौती देने की एक नई भावना आती जा रही है। इस मानसिक हवा की आम दिशा स्पष्ट थी, किंतु अभी वह एक धीमी बयार के ही रूप में थी और उसे अभी अपनी शक्ति में पूरा-पूरा विश्वास नहीं था। कुछ लोग फासिस्ट भावनाओं के साथ खेल रहे थे। निर्मल और निश्चित सूझबूझ की कमी दिखाई दे रही थी। राष्ट्रीयता अब भी प्रधानविचार-धारा थी।

यह बात मुझे स्पष्ट रूप से समझ में आ गई कि जब तक थोड़ी-बहुत राज-नैतिक स्वतन्त्रता नहीं मिल जायेगी तब तक राष्ट्रीयता ही सब लोगों की प्रधान प्रेरणा बनी रहेगी। यही कारण था कि कांग्रेस भारत की सबसे उन्नत और शक्ति-

शाली संस्था बनी रही थी (और कुछ मजदूर-क्षेत्रों को छोड़कर) अब भी थी। पिछले १३ वर्षों में गांधीजी के नेतृत्व में उसने जनता में एक आश्चर्यजनक जागृति उत्पन्न की थी और अपनी अनिश्चित मध्यमवर्गीय विचारधारा के बावजूद उसने एक क्रांतिकारी उद्देश्य की पूर्ति की थी। उसकी उपयोगिता अभी कम नहीं हुई थी और जब तक राजनैतिक प्रेरणा का स्थान सामाजिक प्रेरणा न ले ले तब तक उसके कम होने की संभावना भी नहीं थी। इसलिए देश की भावी उन्नति—सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों—अधिकतः कांग्रेस से ही संबद्ध मानी जानी चाहिए, यद्यपि इसके लिए अन्य मार्गों का भी प्रयोग किया जा सकता है।

किंतु उन दिनों कांग्रेस का अर्थ गांधीजी से था। वह क्या करेंगे? उनके विचार कभी-कभी बड़े ही पुराने जमाने के होते थे, फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से वह भारत में आधुनिक युग के सबसे बड़े क्रांतिकारी थे। उनका व्यक्तित्व एक विचित्र व्यक्तित्व था और उनका मूल्य साधारण मापदण्ड से नहीं आंका जा सकता था, यहां तक कि उन पर तर्कशास्त्र के साधारण नियम भी लागू नहीं किये जा सकते थे। किंतु चूंकि वह हृदय से क्रांतिकारी थे और उन्होंने भारत की स्वतन्त्रता का संकल्प ले रखा था, इसलिए स्वतन्त्रता की प्राप्ति तक उनका इस प्रकार दृढ़ता-पूर्वक कार्य करते रहना अनिवार्य था। मुझे आशा थी कि इसी क्रिया में वह जनता में महान् शक्ति उत्पन्न कर देंगे और धीरे-धीरे स्वयं भी सामाजिक लक्ष्य की ओर अग्रसर होंगे।

पिछले कितने ही वर्षों से भारत के और भारत से बाहर के कट्टर साम्यवादी गांधीजी तथा कांग्रेस पर कटु आक्षेप करते रहे हैं और कांग्रेसी नेताओं पर हर तरह के नीच मन्तव्यों का आरोप लगाते रहे हैं। उन्होंने कांग्रेस विचारधारा की जो सैद्धांतिक आलोचनाएं की हैं उनमें से कितने ही योग्यतापूर्ण और संगत थीं और समय ने अंशतः उनका समर्थन भी किया है। भारत की आम राजनैतिक स्थिति के उनके कितने ही प्रारंभिक विश्लेषण बाद में आश्चर्यजनक रीति से सत्य सिद्ध

हुए। किंतु जब वे अपने आम सिद्धांतों को छोड़कर विस्तार की बातों में प्रवेश करते हैं—और विशेष रूप से जब वे कांग्रेस के कार्य पर विचार करने बैठते हैं तो बुरी तरह से पथभ्रष्ट हो जाते हैं। भारत में साम्यवादियों की कम संख्या और कम प्रभाव का एक कारण यह है कि यहां के साम्यवादियों ने साम्यवाद की वैज्ञानिक जानकारी फैलाने और जनता की विचारधारा को उसके पक्ष में बदलने की चेष्टा करने के बजाय अपना ध्यान ज्यादातर दूसरों को गाली देने पर केन्द्रित रखा है। इसकी उन पर प्रतिक्रिया हुई है और उन्हें बड़ी क्षति पहुंची है। उनमें से अधिकांश लोगों को मजदूरों के बीच काम करने की आदत है, जिन्हें जीतने के लिए अक्सर दो चार नारे ही काफी होते हैं। किंतु पढ़ेलिखे आदमियों पर केवल नारे काम नहीं करते। साम्यवादी लोग इस बात को समझ नहीं पाये हैं कि आज भारत में मध्यम वर्ग के पढ़ेलिखे लोग ही सबसे अधिक क्रांतिकारी हैं। फिर भी साम्यवादियों की इन कट्टरताओं के बावजूद बहुत से सुशिक्षित लोग साम्यवाद की ओर आकर्षित हुए हैं। किंतु तब भी दोनों के बीच एक खाई है।

साम्यवादियो का कहना है कि कांग्रेसी नेताओं का लक्ष्य सरकार पर जनता का दबाव डालकर भारतीय पूंजीपतियों और जमींदारों के हित में औद्योगिक और व्यावसायिक रियायतें प्राप्त करना रहा है। उनकी राय में कांग्रेस का काम 'किसानों, मध्यम वर्ग के नीची श्रेणी के लोगो और औद्योगिक मजदूरो के आर्थिक और राजनैतिक असतोष पर साज डाल उसे बंबई, अहमदाबाद और कलकत्ते के मिल मालिकों और पूंजीपतियो के रथ में जोतना रहा है।' उनका खयाल है कि भारतीय पूंजीपति परदे के पीछे बैठे-बैठे कांग्रेस कार्य समिति को पहले तो एक सार्वजनिक आंदोलन चलाने का आदेश देते हैं और जब वह आंदोलन विशाल तथा संकटजनक रूप धारण कर लेता है तो वे उसे स्थगित करने या गौण बना देने को कहते हैं। इसके अलावा, साम्यवादियों का कहना है कि कांग्रेसी नेता वस्तुतः अंग्रेजों का भारत से जाना नहीं चाहते; क्योंकि भारत की भूखों मरती जनता को नियन्त्रण में रखने

और उनका शोषण करने के लिए उनकी जरूरत है और भारत के मध्यम श्रेणी के लोग अपने को इस योग्य नहीं समझते ।

ताज्जुब की बात है कि योग्य साम्यवादी भी ऐसे भद्दे विश्लेषणों पर विश्वास करते हैं, किंतु स्पष्ट है कि वे इनमें विश्वास करते हैं, इसलिए उनका भारत में इतना असफल होना कोई आश्चर्य की बात नहीं । उनकी बुनियादी गलती यह है कि वे भारत के राष्ट्रीय आंदोलन को यूरोपीय मजदूरों के मापदंड से नापते हैं और चूंकि मजदूर नेताओं का मजदूर आंदोलन के साथ बराबर धोखा करना उनके लिए कोई नई बात नहीं है, इसलिए वे यही उपमा भारत पर भी लागू करते हैं ।...

यह खयाल भी बिलकुल ग़लत है कि सन् १९२१ और १९३० में जनता कि दबाव के कारण गांधीजी को ऐसे आंदोलन आरंभ करने पड़े थे जो बाहर से देखने में आक्रमणकारी मालूम होते थे । यह तो ठीक है कि जनता में उथलपुथल मची हुई थी; किंतु दोनो बार कदम गांधीजी ने ही बढ़ाये । सन् १९२१ में उन्होंने प्रायः अकेले अपने बूते पर कांग्रेस का संचालन किया और उसे असहयोग आंदोलन में संलग्न कर दिया । सन् १९३० में अगर गांधीजी ने जरा भी विरोध किया होता तो सीधी कार्रवाई का कोई आक्रमणात्मक या कारगर आंदोलन कभी संभव न होता ।[१]

यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि वैयक्तिक ढंग की मूर्खतापूर्ण और अल्प जानकारी पर आधारित आलोचनाएं की जाती हैं । ऐसा करने से ध्यान असली समस्याओं पर से हट जाता है । गांधीजी की सचाई पर आघात करना अपने आपको और अपने हित को नुकसान पहुंचाना है, क्योंकि भारत के लाखों सपूतों की आंखो में वह सत्य की प्रतिमूर्त्ति हैं । जो आदमी उन्हें जरा भी जानता है वह उनकी उस तीव्र लगन से परिचित है जिसके साथ वह सदा सत्य कार्य करने की चेष्टा करते रहते हैं ।

ग्राम-उद्योग और मशीन

गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस बहुत दिनों से ग्राम-उद्योगों के पुनरुद्धार का समर्थन करती आई थी—विशेषकर हाथ की कताई और बुनाई का। किंतु कांग्रेस ने कभी बड़े उद्योगों के विकास का विरोध नहीं किया था और जब कभी उसे व्यवस्थापिका सभाओं में या कहीं और मौका मिला तभी उसने उनकी वृद्धि को प्रोत्साहन दिया था।

तो क्या इन दोनो दृष्टिकोणों में कोई विरोध है? शायद अन्तर केवल जोर देने में है—कुछ उन मानवी और आर्थिक तथ्यों को समझने में है जिनकी पहले भारत में अपेक्षा की जाती थी। भारत के जिन उद्योगपतियों और राजनीतिज्ञों ने उनका समर्थन किया था वे १९ वीं सदी के यूरोप के पूंजीवादी उद्योगों के विकास से अधिक प्रेरित हुए थे और उसके उन अनेक कुपरिणामों को भूल गये थे जो २० वीं सदी में साफ साफ दिखाई देते थे। भारतवर्ष में पिछले सौ वर्ष से साधारण उन्नति के मार्ग के अवरुद्ध रहने के कारण इन परिणामों का अधिक व्यापक होना अनिवार्य था। प्रचलित आर्थिक प्रणाली के अन्तर्गत भारतवर्ष में जिस तरह के मध्यम कोटि के उद्योग धन्धे आरंभ किये जा रहे थे, वे मजदूरों को अपने में खपा नहीं सके, बल्कि उनसे बेकारी और बढ़ गई। जहां एक छोर पर पूंजी जमा होती रही वहां दूसरे छोर पर गरीबी और बेकारी बढ़ती रही। संभव था कि यदि किसी दूसरी प्रणाली को अपनाया जाता, मजदूरों को खपा सकने वाले बड़े उद्योगों पर जोर दिया जाता और एक निश्चित योजना के अनुसार कार्य किया जाता तो ऐसा न हो पाता।

जनता का इस बढ़ती हुई निर्धनता का गांधीजी पर बड़ा जबरदस्त प्रभाव पडा। मेरी समझ में यह बात ठीक है कि जीवन के संबंध में गांधीजी के दृष्टिकोण में जिसे हम आधुनिक दृष्टिकोण कह सकते हैं, बुनियादी अंतर है। आध्यात्मिक और नैतिक तत्वों के विकास के स्थान पर दिन-पर-दिन जीवन-मान में वृद्धि होना

और शौकीनी का बढ़ना गांधीजी को मुग्ध नहीं करता। वह कोमल जीवन के पक्षपाती नहीं। उनके लिए सीधा मार्ग ही कठोर मार्ग है। उनकी समझ में शौकीनी के प्रेम के फलस्वरूप जीवन में कुरूपता आ जाती है और सद्गुणों का नाश होता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि गरीबो और धनियो के बीच जो लंबी-चौड़ी खाई है, उनके रहन-सहन और विकास प्राप्त करने के अवसरों में जो अंतर है उससे उनके हृदय को आघात लगता है। अपने व्यक्तिगत और मनोवैज्ञानिक संतोष के लिए वह इस खाई को पारकर गरीबो की ओर चले गए और थोड़े-बहुत सुधार के साथ, जो कि उन निर्धनो की सामर्थ्य की सीमा में था, उन्होंने उनके रहन-सहन और वेश-भूषा (या यो कहिये कि वेशभूषा के अभाव) को अपना लिया। कुछ गिने-चुने धनियों और असख्य निर्धन जनता में यह जो महान् अंतर था, उसके उनकी समझ में दो प्रधान कारण थे—(१) विदेशी राज और उसके साथ का शोषण, और (२) पश्चिमी देशों की पूंजीवादी औद्योगिक सभ्यता जिसकी प्रतिमूर्ति बड़ी-बड़ी मशीनें थीं। उनकी प्रतिक्रिया दोनों के विरुद्ध थी। उन्होंने लालसापूर्ण दृष्टि से उस अतीत की ओर देखा जब कि गाव स्वतन्त्र और कम या अधिक मात्रा में स्वावलबी थे और जहां उत्पादन, विभाजन और उपभोग में स्वाभाविक सतुलन था, जहां राजनैतिक और आर्थिक शक्ति आज की तरह किसी एक स्थल पर केन्द्रीभूत न होकर सर्वत्र फैली हुई थी, जहा एक प्रकार का सरल जनतन्त्र प्रचलित था, जहां अमीरो और गरीबो में इतना अधिक अतर नहीं था, जहां बड़े-बड़े शहरो के दुर्गुण अनुपस्थित थे, जहां लोग जीवनदायिनी भूमि के संपर्क में रहते थे और खुले मैदान की खुली हवा में सांस लेते थे।

अतः जीवन के अर्थ के संबध में गांधीजी और बहुत-से दूसरे लोगों के विचारो में बुनियादी अन्तर था और इस अतर का गांधीजी की भाषा और क्रियाओं पर प्रभाव पड़ा। उनकी भाषा, जो कि स्पष्ट और जोरदार होती थी, मुख्यतः भारत के किंतु साथ ही अन्य देशो के भी युगो से चले आये धार्मिक व नैतिक

सिद्धांतो से प्रेरित होती थी। नैतिक तत्त्वों का होना अनिवार्य है, साध्य के लिए कभी अयोग्य साधनों का समर्थन नहीं किया जा सकता, नहीं तो व्यक्ति और जाति का सर्वनाश हो जायेगा।

फिर भी वह जीवन और उसकी समस्याओं से अलग किसी स्वनिर्मित स्वप्न-संसार में नहीं बसते थे। उनका जन्म गुजरात में हुआ था, जो दृढ़ विचारवाले व्यापारियो की निवास भूमि है। इसके अलावा, उन्हे भारतीय गांवो और वहां की जीवन-स्थिति का अद्वितीय ज्ञान था। इसी व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर उन्होने चरखा और ग्राम-उद्योगों की योजना बनाई थी। अगर देश के अन-गिनत बेकारो और अर्द्ध-बेकारो को फौरन राहत पहुंचानी थी, अगर उस सड़न को, जो सारे देश में फैलती जा रही थी और जन साधारण को पंगु बनाती जा रही थी, दूर करना था, अगर गांववालो के जीवन-मान को सामूहिक रूप से थोड़ा-बहुत भी ऊपर उठाना था, अगर उन्हें परित्यक्तो की भांति दूसरों से राहत पाने की असहाय प्रतीक्षा में न रखकर आत्मनिर्भरता का पाठ पढ़ाना था और अगर यह सब काम बिना पूंजी के होना था तो कोई दूसरा रास्ता नहीं दिखाई देता था। विदेशी राज और शोषण में जो बुराईयां निहित थीं वे तो थीं ही और बड़ी सुधार-योजनाओं को आरम्भ व संचालित करने की स्वतंत्रता का भी अभाव था, किंतु इनके अलावा, भारत की और एक समस्या भी थी— वह थी पूंजी की कमी और मजदूरों की बहुतायत। प्रश्न यह था कि बर्बाद जानेवाले श्रम को अर्थात् उस मनुष्य-शक्ति को जो कुछ भी उत्पन्न नहीं कर रही थी कैसे प्रयोग में लाया जाय? मनुष्य-बल और मशीनो के बल में मूर्खता-पूर्ण तुलनाएं की जाती है। इसमें तो संदेह नहीं कि अकेली मशीन एक हजार या दस हजार आदमियो का काम कर सकती है। किंतु यदि वे दस हजार व्यक्ति खाली बैठे रहें या भूखों मरें तो उस मशीन की स्थापना से कोई सामाजिक लाभ नहीं हो सकता, सिवा किसी ऐसी दीर्घकालीन योजना में जिसके लिए सामाजिक

अवस्थाओं में परिवर्तन आवश्यक है। यदि बड़ी मशीनें न हों तो तुलना का प्रश्न ही नहीं उठता। यह मनुष्य-बल को उत्पादन के काम में लगाने के लिए व्यक्तिगत और राष्ट्रीय दोनों दृष्टिकोणों से लाभप्रद होता है। इस व्यवस्था में और बड़े-से बड़े पैमाने पर मशीनों की स्थापना में कोई विरोध नहीं, बशर्ते कि मशीन मुख्य रूप से मजदूरों को काम में लगाने के उपयोग में आये, न कि नई बेकारी पैदा करने के काम में।

यरवदा जेल में

जिस समय मैं जेल से छूटने की प्रतीक्षा में था, बाहर व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा के रूप में एक नये ढंग का आन्दोलन आरम्भ हो रहा था। इसमें भी गांधीजी ने ही पहल करने की ठानी और अधिकारियों को नोटिस देने के बाद वह १ अगस्त को गुजरात के किसानों को सविनय अवज्ञा सिखाने के अभिप्राय से रवाना हुए। वह फौरन कैद कर लिए गए, उन्हें एक साल की सजा हुई और वह यरवदा जेल की अपनी कोठरी में भेज दिये गये। मुझे इससे खुशी हुई, किंतु जल्दी ही एक नई जटिलता उठ खड़ी हुई। गांधीजी ने पहले की ही तरह इस बार भी जेलसे हरिजन कार्य करते रहने के लिए सुविधाएं मांगी, किंतु सरकार ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। एकाएक हमें सूचना मिली कि इस प्रश्न पर गांधीजी ने अनशन आरम्भ कर दिया है। इतना बड़ा कदम उठाने के लिए यह एक बहुत ही साधारण-सी बात मालूम होती थी। सरकार से उनका तर्क चाहे पूरी तरह से सही क्यों न हो, उनकी अनशन करने की बात मेरी समझ में बिल्कुल नहीं आई। पर हम कुछ कर नहीं सकते थे और भौचक्के बने केवल प्रतीक्षा करते रहे।

अनशन के एक सप्ताह बाद उनकी अवस्था बड़ी तेजी से गिरने लगी। वह अस्पताल में भेज दिये गए थे, किंतु थे वह तब भी कैदी ही और हरिजन कार्य के के लिए सुविधा देने के प्रश्न पर सरकार झुक नहीं रही थी। जीवित रहने की जो

आकांक्षा उनमें पहले के उपवासों में थी वह इस बार नहीं रह गई थी और उन्होंने अपने को बिलकुल ढीला छोड़ दिया था। उनका अंत समीप दिखाई देता था। उन्होंने सबसे अंतिम बिदा कही और आसपास पड़ी हुई अपनी निजी चीजें लोगों में बांट दीं और कुछ नर्सों को दे दीं। किंतु सरकार उन्हें अपने हाथों मरने देना नहीं चाहती थी और उसी शाम को वह रिहा कर दिये गए। यह बात ऐन मौके पर आकर हुई। अगर एक दिन की और देर हो गई होती तो शायद उन्हें न बचाया जा सकता। उनकी प्राण रक्षा का बहुत कुछ श्रेय श्री सी. एफ. ऐन्ड्रूज को मिलना चाहिये, जो गांधीजी के मना करने पर भी भागते हुए भारत आये थे।

जेल से छूटने पर जब मैंने भारत की राजनैतिक और आर्थिक स्थिति का सिंहावलोकन किया तो मुझे बहुत ही कम उत्साह हुआ। माताजी के स्वास्थ्य में सुधार होते ही मैं गांधीजी से मिलने पूना गया। उनसे फिर से मिलकर और यह देखकर कि कमजोरी के बावजूद उनकी अवस्था में संतोषजनक सुधार हो रहा है मुझे बड़ा सुख मिला। मेरी उनकी लम्बी-चौड़ी बातें हुई। जीवन, राजनीति और अर्थ संबंधी विचारों में मेरा उनसे काफी मतभेद था, किंतु मेरे दृष्टि कोण के यथासाध्य स्वीकार करने में उन्होंने जो उदारता दिखाई उसके लिए मैं उनका बड़ा कृतज्ञ हुआ। मेरे मस्तिष्क में बड़ी-बड़ी समस्याएं उथलपुथल मचा रही थीं उनके संबंध में मेरा उनका पत्र-व्यवहार भी हुआ था, जो बाद में प्रकाशित कर दिया था। उनमें इन समस्याओं का उल्लेख हुआ तो बड़ी ही अनिश्चित भाषा में, किंतु आम दिशा स्पष्ट थी। मुझे गांधीजी की इस घोषणा से खुशी हुई कि स्वार्थ-रत हितों को समाप्त करना चाहिए, किंतु यह काम जबरदस्ती से नहीं, बल्कि परिवर्तन द्वारा होना चाहिए। चूंकि मैं जानता था कि उनके हृदय-परिवर्तन के अनेक तरीकों में एक प्रकार की विनीत और नम्र जबरदस्ती ही होती है, मुझे अपने और उनके दृष्टिकोण में कुछ विशेष अन्तर नहीं दिखाई दिया। उस समय भी उनके प्रति यही भावना थी कि अनिश्चित सिद्धांतों पर विचार करने

के वह चाहे कितने ही विरुद्ध क्यों न हों, वास्तविकता उन्हें धीरे-धीरे अनिवार्य रूप से आधारभूत सामाजिक परिवर्तन की ओर ले जायगी।

उस समय मैंने सोचा कि अभी तो इसका सवाल ही नहीं उठता। हमारा राष्ट्रीय संघर्ष मंझधार में था और सैद्धांतिक रूप से सविनय अवज्ञा अब भी कांग्रेस का कार्यक्रम था, यद्यपि अब वह व्यक्तियों तक ही सीमित कर दिया गया था। हमें उसी तरह चलते रहकर जनता में—विशेष रूप से कांग्रेस के कुछ अधिक राजनैतिक जाग्रति वाले कार्यकर्ताओं में—समाजवादी विचारधारा का प्रचार करना था, ताकि दूसरी नीति की घोषणा का समय आने पर हम एक उल्लेखनीय प्रगति के लिए तैयार रहे। इस बीच कांग्रेस एक अवैध संस्था घोषित कर दी गई थी और ब्रिटिश सरकार उसे कुचलने का प्रयत्न कर रही थी। हमें उस प्रहार का सामना करना था।

कांग्रेस से अवकाश

गांधीजी के सामने जो सबसे बड़ी समस्या थी वह एक व्यक्तिगत समस्या थी। वह सोच रहे थे कि खुद उन्हे क्या करना है? वह उलझन में थे। वह सोचते थे कि अगर मैं जेल चला गया तो हरिजन कार्य के लिए सुविधा का प्रश्न फिर उठेगा जिसपर शायद सरकार फिर झुकेगी नहीं और मुझे फिर से उपवास करना पड़ेगा। तो क्या ये सब बातें ही फिर से दुहराई जायं? उन्होंने ऐसी शिथिल नीति को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया और कहा कि अगर मैंने इस प्रश्न पर फिर से उपवास किया तो वह रिहाई के बाद भी जारी रहेगा। इसका मतलब था आमरण अनशन।

गांधीजी के सामने दूसरा संभव रास्ता यह था कि जब तक सजा की अवधि समाप्त न हो जाय—अभी उसे साढ़े दस महीने और बाकी थे—तब तक वह अपने को फिर से गिरफ्तार न करावें और हरिजन कार्य में संलग्न रहें। लेकिन साथ ही कांग्रेस कार्यकर्ताओं से मिलते रहें व आवश्यकता पड़ने पर उन्हें सलाह भी दें।

उन्होंने मेरे सामने जो तीसरा सुझाव रखा वह यह था कि वह कुछ समय के लिए कांग्रेस से बिलकुल अलग हो जायं और उसे 'नौजवानों' के हाथों में छोड़ दें।

पहला रास्ता, जिसका अन्त अनशन द्वारा गांधीजी की मृत्यु में दिखाई देता था, हमारे लिए कदापि ग्राह्य नहीं हो सकता था। तीसरा रास्ता भी, ऐसे समय में जब कांग्रेस स्वयं एक अवैध संस्था थी, बड़ा अनुचित प्रतीत होता था। उसका नतीजा यह होता कि या तो सविनय अवज्ञा आंदोलन और सब तरह की सीधी कार्रवाइयां फौरन बन्द हो जातीं और कांग्रेस को फिर से अपनी पुरानी कानूनी और वैधानिक कार्रवाइयों का सहारा लेना पड़ता, या एक अवैध और परित्यक्त संस्था बनकर—यहां तक कि गांधीजी द्वारा भी त्यागी जाकर—सरकार द्वारा और भी अधिक कुचली जाती। इसके अलावा यह कब संभव था कि कोई एक दल एक ऐसी अवैध संस्था को संभालने का भार वहन करता जिसकी न बैठकें हो सकती थीं और न जो किसी नीति पर वादविवाद ही कर सकती थी। इस प्रकार पहले और तीसरे रास्तों को अलग हटाकर हम गांधीजी द्वारा बताये गये दूसरे रास्ते पर पहुंचे। हममें से अधिकांश लोग उसे नापसन्द करते थे और जानते थे कि उससे सविनय अवज्ञा आंदोलन के शेष अंश को बड़ा जबरदस्त धक्का लगेगा। युद्ध के मैदान से सेनापति के हट जाने पर दूसरे उत्साही कांग्रेसी कार्यकर्ताओं के आगे बढ़कर आग में कूदने की बहुत ही कम संभावना थी; किंतु इस झमेले से बाहर निकलने का और कोई रास्ता दिखाई नहीं देता था, इसलिए गांधीजी ने उसी के अनुसार अपनी घोषणा कर दी।

समाजवादियों की आलोचना

बंबई में मैं कितने ही मित्रों और साथियों से मिला। इनमें से कुछ हाल ही में जेल से छूटकर आये थे। वहां समाजवादी भावना का बोलबाला था और पिछले दिनों जो घटनाएं घटी थीं उनके प्रति कांग्रेस के उच्च वर्ग में बड़ा क्षोभ फैला हुआ था। राजनीति को आध्यात्मिक दृष्टि से देखने के लिए गांधीजी की बड़ी

तीव्र आलोचना की जाती थी। इनमें से अनेक बातों से मैं सहमत था; किंतु मैं यह साफ-साफ समझता था कि उस समय की स्थिति में हमारे लिए और कोई विकल्प ही नहीं था और हमें उसी तरह से काम करते रहना था। सविनय अवज्ञा आंदोलन को वापस लेने से हमें कोई राहत नहीं मिल सकती थी, क्योंकि सरकार के प्रहार जारी रहते और कोई भी कार्रवाई करने पर जेल जाना पड़ता। हमारा राष्ट्रीय आंदोलन एक ऐसी स्थिति पर पहुंच गया था जब सरकार द्वारा उसका दबाया जाना लाजिमी हो गया था, नहीं तो वह उस पर अपना अंकुश जमा लेता। इसका मतलब यह था कि हमारा आंदोलन उस अवस्था को प्राप्त कर चुका था जब कि उसके हर समय अवैध घोषित किये जाने की संभावना थी और एक आंदोलन के रूप में उसका, सविनय अवज्ञा को बन्द करने पर भी, वापिस लिया जाना असंभव था। अवज्ञा आंदोलन को जारी रखने से कोई व्यावहारिक अंतर नहीं पड़ता। असली महत्त्व तो नैतिक विरोध का था। नये विचारों के प्रचार में जितनी आसानी संघर्ष के समय पड़ सकती थी उतनी संघर्ष के स्थगित कर देने पर और पतन आरंभ हो जाने पर नहीं। इसलिए संघर्ष का एकमात्र दूसरा विकल्प यह था कि ब्रिटिश सरकार से समझौता कर लिया जाता और कौंसिलों में वैधानिक ढंग से कार्य किया जाता।

स्थिति बड़ी कठिन थी और विकल्प का निश्चय करना आसान नहीं था। अपने साथियों का यह मानसिक संघर्ष मैं खूब समझता था; क्योंकि मुझे स्वयं उनका सामना करना था। किंतु मैंने वहां देखा—जैसा कि भारतवर्ष के अन्य स्थानों में देखा था—कि कुछ लोग उच्च समाजवादी सिद्धांतों को अपनी निष्क्रियता की आड़ बनाना चाहते थे। यह देखकर झुंझलाहट होती थी कि जो लोग स्वयं कुछ नहीं करते थे, वे दूसरे लोगों को, जिन्होंने आंधी और तूफान के समय संघर्ष का बोझ अपने कंधों पर वहन किया था, प्रतिगामी कहकर पुकारते हैं। घर में बैठे-बैठे बातें बनाने वाले ये समाजवादी गांधीजी से विशेष रूप से क्रुद्ध हैं और उन्हें

वे सबसे बड़ा प्रतिक्रियावादी मानते हैं। वे जो तर्क देते हैं, वे तर्क की दृष्टि से अचूक होते हैं; किंतु असलियत यह है कि जिसे वे प्रतिक्रियावादी कहते हैं वह देश को जानता है, समझता है, स्वयं कृषक भारत का प्रतीक है और उसने भारत को इतना हिला दिया है, जितना क्रांतिकारी कहे जाने वाले किसी व्यक्ति ने नहीं हिलाया होगा। उनकी हरिजन-संबंधी कार्रवाइयों तक ने कट्टर हिंदू धर्म पर कोमलता के साथ किंतु दृढ़तापूर्वक आघात किया है और उसकी जड़ तक को हिला दिया है। सभी सनातनियों ने उनका मिलकर विरोध किया है और वे उन्हें अपना सबसे खतरनाक दुश्मन मानते हैं, यद्यपि गांधीजी उनके साथ अब भी बड़ी नम्रता और शिष्टता के साथ व्यवहार करते हैं। अपने ढंग पर वह ऐसे शक्तिशाली तत्त्वों का प्रसार करने में निपुण हैं जो पानी की लहरों की तरह फैल जाते हैं और लाखों को प्रभावित करते हैं। वह प्रतिक्रियावादी हों चाहे क्रांतिकारी, उन्होंने देश के रूप को बदल दिया है, भ्रष्ट और चापलूस जनता को गर्व और चरित्र प्रदान किया है, उसमें बल और चेतना फूंकी है और भारतीय समस्या को एक विश्वसमस्या का रूप दिया है। अहिंसात्मक असहयोग या सविनय अवज्ञा आंदोलन के उद्देश्य और आध्यात्मिक परिणामों को तो छोड़ दीजिये, एक पद्धति के रूप में ये दोनों आंदोलन भारत और संसार को गांधीजी की अनोखी तथा शक्तिशाली देन हैं और इसमें संदेह नहीं कि यह पद्धति भारतीय स्थितियों के विशेष अनकूल रही है।

भारत की प्रतिमूर्त्ति

फिर भी गांधीजी कितने अद्भुत व्यक्ति थे! उनमें कितना विस्मयकारी और प्रबल आकर्षण था और जनता पर उनके कितना विलक्षण अधिकार था उनका! लेखों और भाषणों से उनके भीतर छिपे हुए मानव का बहुत ही कम परिचय मिलता था। इन्हें पढ़ और सुनकर मनुष्य जितना सोच सकता है उससे कहीं विशाल उनका व्यक्तित्व था। और जहां तक भारत के लिए उनकी सेवाओं का सवाल है, वे कितनी

महान् रही है ! उन्होंने देश की जनता में साहस और पौरुष भरा था, अनुशासन और सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया था, एक हित के लिए हंसते-मुंह त्याग करने की शक्ति प्रदान की थी और अपनी समस्त नम्रता के बावजूद उसमें गर्व का प्रादुर्भाव किया था। वह कहा करते थे कि साहस चरित्र का एकमात्र निश्चित आधार है, साहस के बिना न कोई नैतिकता है, न धर्म और न प्रेम। "जब तक हम भय के पात्र बने हुए हैं तब तक सत्य या प्रेम का अनुसरण नहीं कर सकते।" हिंसा के लिए अतिशय घृणा होते हुए भी वह हमसे कहा करते थे कि कायरता हिंसा से भी अधिक घृणास्पद है। और "अनुशासन इस बात का संकल्प और इस बात की गारंटी है कि मनुष्य में कार्य करने की लगन है। त्याग, अनुशासन और संयम के बिना कोई मुक्ति नहीं, कोई आशा नहीं। अनुशासन बिना कोरा त्याग निरर्थक है।" आप कह सकते हैं कि ये केवल पवित्र शब्द थे, किंतु इन शब्दों में एक शक्ति थी और भारत इस बात को अच्छी तरह से जानता था कि यह सूक्ष्म-सा व्यक्ति वास्तविक कार्य करना चाहता है।

गांधीजी भारत का प्रतिनिधित्व एक आश्चर्यजनक सीमा तक करने लगे थे। वह इस पुरातन और संतप्त भूमि की अन्तरात्मा की आवाज बन गये थे। एक प्रकार से वह स्वयं भारत थे और उनकी दुर्बलताएं भारतीय दुर्बलताएं थीं। उनकी उपेक्षा स्वयं उनके लिए तो शायद ही कोई महत्त्व रखती हो; किंतु राष्ट्र के लिए वह अपमान स्वरूप होती थी। जो वाइसराय और दूसरे लोग ऐसे घृणित कार्य करते थे वे यह नहीं समझते थे कि वे कितनी खतरनाक आग से खेल रहे हैं। मुझे याद है कि दिसंबर १९३१ में जब गांधीजी गोलमेज कांफ्रेंस से लौट रहे थे और पोप ने उनसे मिलने से इन्कार कर दिया था तो इस समाचार से मुझे बड़ी चोट लगी थी मुझे ऐसा लगा था जैसे वह इन्कार भारत को एक चुनौती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पोप ने जानबूझकर इन्कार किया था, यद्यपि शायद उसने भारत को चुनौती देने की बात नहीं सोची थी। कैथोलिक मत वाले किसी दूसरे धर्म के

साधु या महात्मा को नहीं मानते और चूंकि कुछ प्रोटेस्टेंट मतावलंबियों ने गांधीजी को एक महान् धार्मिक और एक सच्चा ईसाई कहकर पुकारा था, इसलिए पोप के लिए यह और भी आवश्यक हो गया था कि वह अपने को इस पाखण्ड से अलग रखते ।

गांधीजी से इतने वर्षों के घनिष्टतम संपर्क के बाद भी मैं उनके लक्ष्य को बिलकुल स्पष्ट रूप से नहीं समझ पाया हूं । वह स्वयं भी इसे समझते हैं, इसमें मुझे संदेह है । वह कहते हैं कि मेरे लिए तो बस एक कदम काफी है । वह न तो भविष्य में ही झांकने का प्रयत्न करते हैं, न अपने सामने एक स्पष्ट लक्ष्य ही रखते हैं । वह यह कहते-कहते कभी नहीं थकते कि साधन की चिंता रखो, साध्य अपनी चिंता आप कर लेगा । अपने वैयक्तिक जीवन में अच्छे बने रहो, शेष बातें तो आपसे आप हो जायेंगी । यह कोई राजनैतिक या वैज्ञानिक सिद्धांत नहीं है और न शायद कोई आचार नीति ही है । उसमें अगर थोड़ी-बहुत पुट है तो वह नैतिकता की है । नेकी क्या है ? यह एक वैयक्तिक वस्तु है या सामाजिक ? गांधीजी सारा बल चरित्र पर देते हैं और बौद्धिक शिक्षण तथा विकास को बहुत ही कम महत्त्व प्रदान करते हैं । चरित्र के बिना बुद्धि के खतरनाक होने की संभावना है, किंतु चरित्रहीन बुद्धि क्या है ? आखिर चरित्र का विकास कैसे होता है ? गांधीजी की तुलना मध्यकालीन ईसाई सन्तों से की गई है और उनकी बहुत-सी बातें इस तुलना में ठीक भी बैठती हैं । आधुनिक मनोवैज्ञानिक अनुभव और पद्धति के साथ वे बिलकुल मेल नहीं खातीं ।

पाप और मोक्ष

मैं समझता हूं कि गांधीजी अपने लक्ष्य के संबंध में उतने अनिश्चित नहीं हैं जितने कि वह कभी-कभी दिखाई पड़ते हैं । उनमें एक विशेष दिशा में चलने की उत्कट अभिलाषा है; किंतु वह आधुनिक विचारों और अवस्थाओं से बिलकुल भिन्न है और अभी तक गांधीजी इन दोनों का मेल मिलाने या अपने लक्ष्य तक

पहुंचने की समस्त मध्यवर्ती सीढ़ियों की निश्चित रूपरेखा बनाने में सफल नहीं हो पाये हैं। इसीलिए उसमें स्पष्टता का अभाव और अनिश्चितता का आभास मिलता है। फिर भी पिछले २५ वर्षों से अर्थात् उस समय से जबकि उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में अपने जीवन-दर्शन की रूपरेखा तैयार करनी आरंभ की, उनकी विचार-धारा की आम दिशा काफी स्पष्ट रही है। मैं यह नहीं कह सकता कि उनके प्रारंभिक लेख उनके विचारों का अब भी प्रतिनिधित्व करते हैं। वस्तुतः मुझे इसमें संदेह है कि वे ऐसा पूर्ण रूप से करते हैं। फिर भी वे हमें उनके विचारों की पृष्ठभूमि को समझने में सहायता अवश्य देते हैं।

गांधीजी ने सन् १९०९ में लिखा था—"भारत की मुक्ति इसी में है कि पिछले ५० साल में उसने जो सीखा है उसे भुला दे। रेलवे, तार, अस्पताल, वकील, डाक्टर और ऐसे ही अन्य तत्त्वों को नहीं रहना है और तथाकथित उच्चवर्ग के लोगों को जानबूझकर और धार्मिक पवित्रता के साथ सरल कृषक जीवन सीखना है और यह जानना है कि यही जीवन सच्चे सुख का देने वाला है।" उन्होंने यह भी लिखा है—"जब-जब मैं रेल के डिब्बे या मोटर-बस में बैठता हूं तब-तब यह अनुभव करता हूं कि जिस वस्तु को मैं ठीक समझता हूं उसके प्रति हिंसा कर रहा हूं।" "संसार को अत्यधिक कृत्रिम और तीव्र साधनों से सुधारने का प्रयत्न करना एक असंभव बात के लिए प्रयत्न करना है।"

जहां हममें से अधिकांश लोगों को सामाजिक कल्याण का सबसे अधिक ध्यान रहता है, वहां गांधीजी सदा व्यक्तिगत मोक्ष और पाप की बात सोचते हैं। पाप की भावना का मेरी समझ में आना बड़ा मुश्किल है और शायद यही कारण है कि मैं उनके आम दृष्टिकोण को पसन्द नहीं कर पाता। वह समाज या सामाजिक ढांचे को बदलना नहीं चाहते। वह अपना सारा ध्यान व्यक्ति में से पाप को निकाल बाहर करने में लगाते हैं। उन्होंने लिखा है—"स्वदेशी का अनुयायी अपने सिर पर सारे संसार का सुधार करने का निरर्थक कार्य नहीं लेना चाहता, क्योंकि उसे यह

विश्वास है कि वह संसार सदा ईश्वर द्वारा बनाये गये नियमों से संचालित होता है और होगा। वह जो सुधार करना चाहता है वह वैयक्तिक सुधार है। वह अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना चाहता है और अपने को इन इन्द्रियों के भोग में लिप्त होने से, जो कि पाप है, बचाना चाहता है। शायद वह स्वतन्त्रता की उस परिभाषा से सहमत होगा जो एक सुयोग्य रोमन कैथोलिक लेखक ने फासिज्म पर अपने एक लेख में की है—'स्वतन्त्रता और कुछ नहीं, बल्कि पाप के बंधन से मुक्त होना है।' ये शब्द उन शब्दों से कितने मिलते-जुलते हैं जो कि लंदन के बिशप (बड़े पादरी) ने आज से २०० वर्ष पहले लिखे थे—'ईसाई धर्म हमें जो स्वतन्त्रता देता है वह पाप व शैतान के बंधन से और मनुष्य की लालसाओं, विषयाकांक्षाओं और अमर्य्यादित इच्छाओं से मुक्ति है।"

धर्म का क्या अर्थ है?

गांधीजी ने कहीं लिखा है कि "कोई भी आदमी धर्म के बिना नहीं रह सकता। कुछ आदमी ऐसे होते हैं जो अपने तर्क के अहंकार में यह घोषणा करते हैं कि उनका धर्म से कोई संबंध नहीं, लेकिन यह बात तो उस आदमी के समान हुई जो कहता है कि मैं सांस लेता हूं; लेकिन जिसके नाक नहीं है।" गांधीजी ने यह भी कहा है—"मेरे सत्य-प्रेम ने ही मुझे राजनीति के क्षेत्र में खींचा है और मैं बिना किसी संकोच के, किंतु पूर्ण नम्रता के साथ कह सकता हूं कि जो लोग यह कहते हैं कि राजनीति का धर्म से कोई संबंध नहीं वे धर्म का मतलब ही नहीं जानते।" शायद ज्यादा सही होता, अगर गांधीजी यह कहते कि जो लोग जीवन और राजनीति से धर्म को दूर रखना चाहते हैं उनमें से अधिकांश 'धर्म' शब्द का वह अर्थ लगाते हैं जो उनके (गांधीजी के) अर्थ से बहुत भिन्न है। स्पष्ट है कि गांधीजी 'धर्म' शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं उसका संबंध और बातों से अधिक नीति तथा सदाचार से है और वह धर्मालोचकों के अर्थ से भिन्न है।

●

जो लोग गांधीजी को स्वयं नहीं जानते और जिन्होंने केवल उनके लेख पढ़े हैं वे साधारणतः यह सोचा करते हैं कि गांधीजी एक पादरी जैसे हैं—अतिशय सनातनी, लंबे चेहरेवाले कॉल्विनवादी* और उदासीन—"कुछ-कुछ उन पादरियों की तरह जो काले लबादे पहने अपनी ड्यूटी पर घूमा करते हैं।" किंतु उनके लेख उनके प्रति अन्याय करते हैं। जो कुछ भी वह लिखते हैं उससे वह कहीं महान् हैं और उनके लेखों का उल्लेख करके उनकी आलोचना करना उचित नहीं है। वह कॉल्विनवादी पादरी-जैसे नहीं, बल्कि उसके बिलकुल विरोधी हैं। उनकी मुसकराहट मनोरम और उनकी हंसी दूसरों को भी हंसानेवाली होती है और वह अपने चारों ओर विनोद का वातावरण फैला देते हैं। उनमें कुछ बच्चों जैसी बात है जो आकर्षण से परिपूर्ण होती है। जब वह किसी कमरे में प्रवेश करते हैं तो अपने साथ ताजी हवा का एक झोंका लेते आते हैं और वहां एक प्रकाश-सा फैला देते हैं।

गांधीजी में एक जबरदस्त आत्मविरोध है। मैं समझता हूं कि सभी विख्यात व्यक्ति कुछ सीमा तक ऐसे ही होते हैं। वर्षों तक मैं इस समस्या में उलझा रहा हूं कि क्या कारण है कि पददलितों के लिए इतना प्रेम और अपनी सहानुभूति रखते हुए भी वह एक ऐसी प्रणाली का समर्थन करते हैं, जो उनको जन्म देती है और पैरों तले कुचलती है? क्या कारण है कि अहिंसा के लिए इतनी तीव्र लगन होने के बावजूद वह ऐसे राजनैतिक और सामाजिक ढांचे का समर्थन करते हैं कि जो पूरी तरह से हिंसा और जोर-जबरदस्ती पर अवलंबित है? शायद यह कहना ठीक नहीं होगा कि वह ऐसी प्रणाली के पक्ष में हैं। न्यूनाधिक मात्रा में वह एक दार्शनिक अराजकतावादी हैं। किंतु चूंकि आदर्श अराजकता की स्थिति अभी बहुत दूर है और उसकी आसानी से कल्पना नहीं की जा सकती, इसलिए वह वर्तमान अवस्था को स्वीकार कर लेते हैं। मैं समझता हूं कि परिवर्तन के लिए हिंसा के प्रयोग का विरोध वह साधन के दृष्टिकोण से नहीं करते। वर्त्तमान

*इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध प्रोटेस्टेंट सुधारक कॉल्विन (१५०९-६४) के मतावलम्बी

स्थिति को बदलने के लिए प्रयोग में लाई जाने वाली प्रणालियों की बात अगर छोड़ दी जाय तो भी एक ऐसे आदर्श लक्ष्य का निश्चय किया जाना संभव है जिसकी उपलब्धि निकट भविष्य मे ही हो जाय ।

गांधीजी का समाजवाद

कभी-कभी वह अपने को समाजवादी कहते हैं, किंतु इस शब्द का प्रयोग वह बिलकुल वैयक्तिक रूप में करते हैं जिसका समाज की उस आर्थिक रूपरेखा से जो अक्सर समाजवाद के नाम से पुकारी जाती है, कोई संबंध नहीं या बहुत ही कम संबंध है। उनका अनुकरण करते हुए बहुत से प्रमुख कांग्रेस-जन भी इस शब्द का प्रयोग करने लगे हैं, जिससे उनका अर्थ शायद एक तरह की अस्तव्यस्त मानवीयता से है। मै जानता हू कि गांधीजी इस विषय से अनभिज्ञ नहीं, क्योंकि उन्होने अर्थ-शास्त्र और समाजवाद पर यहां तक कि मार्क्सवाद पर भी अनेक पुस्तकें पढ़ी हैं और इस विषय पर दूसरो से विचार-विनिमय भी किया है। किंतु मुझे इस बात का दिन-पर दिन अधिक विश्वास होता जा रहा है कि महत्त्वपूर्ण बातों में केवल मस्तिष्क हमारी अधिक सहायता नही करता ।

गाधीजी में, दक्षिण अफ्रीका के आरंभिक जीवन में, एक महान् परिवर्तन हुआ जिसने उन्हे बुरी तरह से झकझोर दिया और उनके जीवन संबंधी दृष्टिकोण को बिलकुल बदल दिया। उसके बाद से उनके समस्त विचारो का एक निश्चित आधार रहा है। किंतु उनके मन की बातें लोगो को आसानी से नहीं मालूम होतीं। नए सुझाव देने वाले लोगो को वह अधिक-से-अधिक धैर्य और ध्यान के साथ सुनते हैं, किंतु उनकी इस शिष्टतापूर्ण दिलचस्पी के बावजूद सुझाव देने वालों को ऐसा मालूम होता है कि मानो वे एक ऐसे व्यक्ति से बातें कर रहे हैं जिस पर कुछ असर ही नहीं होता। कुछ भावनाओं ने उनमें इतनी गहरी जड़ जमा रखी हैं कि शेष बातें उन्हे महत्त्वहीन प्रतीत होती हैं। उनकी समझ में दूसरी या गौण बातो

पर जोर देना प्रमुख योजना पर से ध्यान बंटाना और उसे विकृत करना है। इसके विपरीत असली मुद्दे का सहारा लेने से सभी बातें आप से आप ठीक हो जाती हैं। यदि साधन ठीक है तो साध्य का ठीक होना अनिवार्य है।

मैं समझता हूं कि उनकी विचारधारा की यही प्रधान पृष्ठभूमि है। वह समाजवाद---विशेष रूप से मार्क्सवाद---पर शंका भी करते हैं, क्योंकि उसका हिंसा से साथ है। 'वर्गयुद्ध' शब्द में ही संघर्ष और हिंसा की दुर्गंध आती है, इसलिए वह उनके लिए घृणास्पद है। इसके अलावा वह जनता के जीवन-मान को एक अत्यंत साधारण क्षमता से आगे बढ़ाना नहीं चाहते, क्योंकि उच्च जीवनमान और अवकाश से वासना तथा पाप की उत्पत्ति हो सकती है। कुछ थोड़े-से संपन्न लोगों का ही वासना में फंसना काफी बुरा है, उनकी संख्या को बढ़ाना तो और भी बुरा होगा।

यह दृष्टिकोण समाजवादी या पूंजीवादी दृष्टिकोण से उतना ही भिन्न है जितना किसी अन्य दृष्टिकोण से। हमारा यह कहना कि अगर विशेष हित वाले लोग हस्तक्षेप न करें तो हम आज विज्ञान और औद्योगिक कला की सहायता से सभी लोगों को अन्न, वस्त्र और शरण दे सकते हैं और उनका जीवन-मान बहुत ऊंचा उठा सकते हैं, गांधीजी को अधिक नहीं रुचता, क्योंकि एक निश्चित सीमा से आगे उन्हें इन बातों की चिंता ही नहीं। इसलिए समाजवाद में दिये जाने वाले आश्वासन उन्हें आकर्षित नहीं करते और पूंजीवाद भी उन्हें केवल अंशतः सह्य है, क्योंकि वह बुराई को एक स्थान में केन्द्रित कर देता है। वह दोनों प्रणालियों को नापसन्द करते हैं, किंतु पूंजीवाद को इन दोनों में कम बुरा मानकर उसे अस्थायी रूप से सहन कर लेते हैं। वह एक ऐसी वस्तु है जो आज विद्यमान है और जिसकी विद्यमानता उन्हें स्वीकार करनी ही है।

हो सकता है कि गांधीजी पर इस प्रकार के मन्तव्यों का आरोप करने में मैं भूल कर रहा हूं, किंतु मैं समझता हूं कि वह निश्चय ही इसी ढंग से विचार करते

हैं और उनके भाषणों में जो आत्मविरोध और भ्रमजाल हमें कष्ट देते हैं उनका असली कारण यह है कि वह एक बिलकुल ही भिन्न सूत्र से विचार करना आरंभ करते हैं। वह यह नहीं चाहते कि लोग सदा बढ़ते हुए आराम को और फुर्सत को अपना आदर्श मान लें, बल्कि वह यह चाहते हैं कि लोग नैतिक जीवन की बातें सोचें, बुरी आदतें छोड़ें, अपने को वासनाओं में कम-से-कम फंसावें और इस प्रकार अपना वैयक्तिक तथा आत्मिक विकास करें। जो लोग जनता की सेवा करना चाहते हैं उन्हें जनता को ऊपर उठाने की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी स्वयं अपने को उनके स्तर तक उतारने और उनसे समान आधार पर मिलने-जुलने की। ऐसा करने में वे उन्हें अनायास थोड़ा-बहुत ऊपर उठा लेंगे। यही उनकी समझ में सच्चा जनतन्त्र है। उन्होंने १७ दिसंबर १९३४ को दिये गये अपने एक वक्तव्य में लिखा है—"बहुत-से लोगों ने मेरा विरोध करने में मायूसी प्रकट की है; मेरे लिए यह एक अपमानजनक जानकारी है, क्योंकि मैं जन्म से ही जनतन्त्रवादी हूं।"

गांधीजी सदा सामंतशाही राजाओं, बड़े जमींदारों और पूंजीपतियों की संरक्षकता पर जोर देते रहते हैं। ऐसा करने में वह पूर्ववर्ती धार्मिक व्यक्तियों का अनुकरण करते हैं। पोप ने कहा है—"धनिकों को चाहिए कि वे अपने को प्रभु के नौकर और साथ ही उसकी दौलत के अभिभावक तथा वितरणकर्ता समझें। ईसा ने उन्हींके हाथोंमें गरीबों का भाग्य सौंपा है।" लोकप्रिय हिंदू-धर्म और इस्लाम भी इसी सिद्धांत को दुहराते हैं और धनिकों से दानी बनने की प्रार्थना करते हैं। धनी लोग इसके बदले में मंदिर, मस्जिद या धर्मशाला बनवा देते हैं या अपनी बहुल संपत्ति में से गरीबों को तांबे और चांदी के सिक्के दे देते हैं और इनके कारण अपने को बड़ा धर्मात्मा मानते हैं।

: ५ :

गांधी जी का जीवन आधार

पर्ल बन्दरगाह और उसके बाद की आकस्मिक घटनाओ ने देश में एक नई तनातनी पैदा कर दी और एक नया दृश्य उपस्थित कर दिया। तनाव के इस नये वातावरण में कांग्रेस कार्य समिति की फौरन बैठक बुलाई गई। उस समय तक जापानी बहुत ज्यादा नही बढ़े थे, किंतु अनेक बड़ी-बड़ी और विस्मयकारी दुर्घटनाएं घट चुकी थी। युद्ध अब दूर का दृश्य नहीं रह गया था और भारत की ओर बढता हुआ उस पर भी गहरा प्रभाव डालने लगा था। इस सकटजनक स्थिति मे कुछ सार्थक कार्य करने की आकाक्षा कांग्रेसियो में तीव्र हो उठी और नई परिस्थिति में जेल जाने की बात निरर्थक प्रतीत हुई। किंतु जब तक किसी सम्मानपूर्ण सहयोग का रास्ता न खुलता और जनता को क्रियाशील बनने के लिए किसी निश्चित प्रेरणा का अनुभव न कराया जाता तब तक हम क्या कर सकते थे? केवल बढ़ते हुए सकट का नकारात्मक भय काफी नही था।

पहले जो कुछ भी हो चुका था उसके बावजूद हम युद्ध, विशेष रूप से भारत के रक्षा-कार्य, में योग देने को उत्सुक थे, बशर्ते कि एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हो जाय जिसकी सहायता से हम देश के दूसरे तत्त्वो का सहयोग प्राप्त कर सकें और जनता को यह अनुभव करा सके कि हमारा कार्य एक राष्ट्रीय कार्य है और हम पर हमें दास बनानेवालो द्वारा नही लादा गया है। इस व्यापक मसले पर कांग्रेसियो और अधिकाश दूसरे लोगो में भी मतभेद नहीं था, किंतु एकाएक एक महत्त्वपूर्ण सैद्धांतिक भेद उठ खड़ा हुआ। बाहरी युद्ध के संबंध में भी गाधीजी अहिंसा के अपने बुनियादी सिद्धात को त्यागने को तैयार नहीं थे। युद्ध की निकटता

उनके लिए एक चुनौती और उनके विश्वास के लिए एक कसौटी बन गई। इस अवसर पर असफल होने का अर्थ यह था कि या तो अहिंसा का सिद्धांत और कार्य-क्रम उतना व्यापक और आधारभूत नहीं था जितना कि गांधीजी उसे समझते आये थे या उसका त्याग करने या उसके साथ समझौता कर लेने में वह भूल करते थे। वह अपने संपूर्ण जीवन के उस विश्वास को नहीं त्याग सकते थे जिस पर कि उनका सारा कार्य आधारित था। उन्होंने महसूस किया कि उन्हें अहिंसा के आवश्यक परिणामों को अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

यूरोप का युद्ध

इसी तरह की कठिनाई और संघर्ष पहली बार सन् १९३८ में म्यूनिक-संकट के समय उत्पन्न हुई थी, जब कि युद्ध सिर पर खड़ा था। उस समय मैं यूरोप में था और वादविवाद में भाग नहीं ले सका था। किंतु संकट के हटने और युद्ध के स्थगित हो जाने से वह कठिनाई दूर हो गई थी। सितंबर १९३९ में जब युद्ध सचमुच छिड़ा तो ऐसा कोई सवाल नही उठा और न हमने उस पर विचार ही किया। किंतु सन् १९४० की गर्मी के अंतिम दिनों में महात्मा गांधी ने यह बात हमारे सामने फिर से स्पष्ट कर दी कि वह हिंसात्मक युद्ध में भागीदार नहीं बनेंगे और कांग्रेस द्वारा भी ऐसी ही प्रवृत्ति का अपनाया जाना स्वीकार करेंगे। सशस्त्र और हिंसात्मक युद्ध मे व्यावहारिक सहायता देने के अलावा वह नैतिक या और दूसरी हर तरह की सहायताएं देने के लिए तैयार थे। वह चाहते थे कि कांग्रेस यह घोषणा कर दे कि वह स्वतन्त्र भारत के लिए भी अहिंसा के ही सिद्धांत का समर्थन करती है। वह जानते थे कि देश में—यहां तककि कांग्रेस में भी—ऐसे तत्त्व हैं जिनका अहिंसा पर विश्वास नहीं। उन्हें इस बात का भय था कि संभव है, रक्षात्मक प्रश्नों के उठने पर स्वतन्त्र भारत की सरकार अहिंसा के सिद्धांत को त्याग दे और सैनिक, समुद्री तथा हवाई शक्ति की वृद्धि करे। फिर भी वह चाहते थे कि यदि संभव हो तो कांग्रेस

कम-से-कम अहिंसा की पताका को ऊंचा उठाये रखे और जनता को शांतिपूर्ण प्रणाली से सोचने तथा कार्य करने की शिक्षा दे। भारत का सैनीकरण होते देखना उन्हें भयावह प्रतीत होता था। वह स्वप्न देखा करते थे कि भारत अहिंसा का प्रतीक और दृष्टांत बनेगा और अपने आदर्श से दूसरे देशों को भी युद्ध तथा हिंसात्मक कार्यों से मुक्त रखेगा। इसलिए वह चाहते थे कि अगर समस्त भारत ने उनके इस सिद्धांत को स्वीकार नहीं भी किया है तब भी परीक्षा का समय आने पर कांग्रेस को उसका परित्याग नहीं करना चाहिए।

जहां तक मुझे पता है, सेना या पुलिस के संबंध में अहिंसा के प्रश्न पर कभी विचार नहीं किया गया था। यह एक मानी हुई बात थी कि अहिंसा का प्रयोग हमारे स्वतन्त्रता-संग्राम तक ही सीमित था। यह सत्य है कि कई रीतियों से अहिंसा ने हमारी विचारशक्ति पर बड़ा प्रबल प्रभाव डाला था और कांग्रेस को विश्व के निश्शस्त्रीकरण का तथा सभी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के शांतिपूर्ण समाधान का समर्थक बना दिया था।

जिन दिनों प्रांतों में कांग्रेसी सरकारें थीं, कई प्रांतीय सरकारें विश्वविद्यालयों और कालेजों में किसी-न-किसी रूप में सैनिक शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिए उत्सुक थीं, किंतु केन्द्रीय सरकार ने इसे स्वीकार नहीं किया और रास्ते में रोड़े अटका दिये।

कम बुराई

निस्संदेह गांधीजी को ये प्रवृत्तियां मान्य नहीं थीं, किंतु उन्होंने हस्तक्षेप नहीं किया। वह तो दंगों को दबाने तक के लिए पुलिस का सशस्त्र प्रयोग पसन्द नहीं करते थे और ऐसी घटना घटने पर दुःख प्रकट किया करते थे। किंतु वह उसे एक न्यूनतर बुराई समझकर सह लेते थे और आशा करते थे कि क्रमशः उनके उपदेश भारतीय जनता के मस्तिष्क में जड़ जमा लेंगे। कांग्रेस की इन प्रवृत्तियों को नापसन्द करने के कारण ही वह सन् १९३४ के आसपास कांग्रेस की साधारण

सदस्यता से भी हट गये, यद्यपि उसके पश्चात भी वह कांग्रेस के असंदिग्ध नेता और सलाहकार बने रहे। हमारे लिए यह एक नियम-विरुद्ध और असंतोषजनक स्थिति थी, लेकिन जहां तक गांधीजी का सवाल है उन्हें शायद यह अनुभूति होती थी कि कांग्रेस के सदस्य न रहने के कारण उन पर कांग्रेस द्वारा समय-समय पर किये जाने वाले उन विभिन्न निर्णयों का, जो उनके सिद्धांतों और विश्वासों से पूरी तरह मेल नहीं खाते थे, व्यक्तिगत उत्तरदायित्व नहीं रह गया। उनमें सदा एक राजनैतिक संघर्ष चलता रहा है और हमारी राष्ट्रीय राजनीति में भी नेता गांधी और मनुष्य गांधी में, जो भारत ही नहीं बल्कि समस्त मानव-जाति और सारे संसार के लिए दैवी संदेश लेकर अवतरित हुआ है, निरन्तर संघर्ष होता रहा है। इस सिद्धांत को स्वीकार करना आसान नहीं कि जीवन—विशेष रूप से राजनैतिक जीवन—की संकटकालीन आवश्यकताओं और तात्कालिक वांछनीयताओं के अवसर पर भी सत्य का कट्टरता के साथ पालन किया जा सकता है। साधारण रूप से तो लोग इसकी चिंता ही नहीं करते। यदि वे सत्य को अपने जीवन में कोई स्थान देते भी हैं तो उसे मस्तिष्क के किसी कोने में पड़े रहने देते हैं और तात्कालिक वांछनीयता को ही कार्य का आधार मानते हैं। राजनीति में सर्वत्र यही नियम रहा है। इसका एकमात्र कारण यही नहीं है कि राजनीतिज्ञ दुर्भाग्यवश एक विचित्र ढंग के अवसरवादी होते हैं, बल्कि यह भी कि वे शुद्ध वैयक्तिक धरातल पर कार्य नहीं कर सकते। उन्हे दूसरों से काम कराना पड़ता है और इसलिए दूसरों की कमियों का ध्यान रखना पड़ता है और यह भी देखना पड़ता है कि वे सत्य को कहां तक समझ और ग्रहण कर सकते हैं। इसके कारण उन्हें सत्य के साथ समझौता करना पड़ता है और उसे तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल बनाना पड़ता है। यह क्रिया अनिवार्य हो जाती है, फिर भी इसके साथ खतरे लगे रहते हैं। सत्य की अवहेलना और परित्याग की प्रवृत्ति बढ़ जाती है और तात्कालिक वांछनीयता कार्य की एकमात्र कसौटी बन जाती है।

यद्यपि गांधीजी कुछ सिद्धांतों पर चट्टान की तरह अटल रहते हैं, तथापि उन्होंने अपने को दूसरे व्यक्तियों और परिवर्तनशील परिस्थियों के अनुकूल बनाने की अपूर्व क्षमता प्रदर्शित की है। वह दूसरो—विशेष रूपसे जनसाधारण—की शक्ति और निर्बलता का ध्यान रखते हैं और यह भी देखते हैं कि उनमें सत्य के अनुसार कार्य करने की कितनी सामर्थ्य है। लेकिन समय-समय पर वह सचेत हो उठते हैं मानो उन्हे इस बात का भय हो गया हो कि उन्होंने लोगों के साथ आवश्यकता से अधिक समझौता कर लिया है और तब वह फिर से अपने सिद्धांतों पर दृढ़ हो जाते हैं। कार्य करते समय वह जनता की विचारधारा से सहमत प्रतीत होते हैं, उसकी सामर्थ्य का ध्यान रखते हैं और इसीलिए कुछ सीमा तक अपने को उसके अनुकूल बना लेते हैं। किंतु कभी-कभी वह अधिक सैद्धांतिक बन जाते हैं और उनकी अपने को दूसरों के अनुकूल बनाने की प्रवृत्ति कम हो जाती है। यही अन्तर उनके कामो और लेखो में दिखाई देता है। इससे खुद उनके अनुयायी भ्रम में पड जाते हैं और जो लोग भारत की पृष्ठभूमि को नही जानते उनकी तो बात ही क्या!

एक अकेला आदमी जनसाधारण के सिद्धातो और विचारो पर कहां तक प्रभाव डाल सकता है, यह कहना कठिन है। इतिहास में कुछ लोग ऐसे हुए हैं, जिन्होंने जनता पर बड़ा जबरदस्त प्रभाव डाला है; किंतु संभवतः उन्होने उन्हीं बातो पर जोर दिया है और उन्हीं तथ्यो का दिग्दर्शन कराया है जो कि जनता के मस्तिष्क में पहले से ही थे, या उन्होने अपने ही युग के अनिश्चित विचारों की स्पष्ट व्याख्या की है। वर्तमान युग की भारतीय विचारधारा पर गांधीजी का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। आगे वह कब तक और किस रूप में रहेगा, यह तो भविष्य ही बता सकता है। उनका प्रभाव उन लोगो तक ही सीमित नहीं है जो उनसे सहमत हैं या उन्हे राष्ट्रीय नेता स्वीकार करते हैं। उनका प्रभाव उन लोगों पर भी पड़ता है जो उनसे असहमत होते हैं और उनकी आलोचना करते हैं। भारत में ऐसे बहुत ही कम व्यक्ति

हैं जो गांधीजी के अहिंसा के सिद्धांत या उनके आर्थिक मतों को पूरी तरह से मानते हों, फिर भी ऐसे लोगों की संख्या बहुत बड़ी है जिन पर इन सिद्धांतों और मतों का कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है। साधारणतः धार्मिक दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि उन्होंने राजनैतिक और दैनिक जीवन की समस्याओं के नैतिक समाधान पर जोर दिया है। धार्मिक पृष्ठभूमि का प्रभाव तो उन्हीं पर पड़ा है जिनकी उधर प्रवृत्ति थी, किन्तु नैतिक दृष्टिकोण ने दूसरों को भी प्रभावित किया है। कितने ही लोगों के नैतिक और सदाचार संबंधी कार्यों का स्तर ऊंचा उठ गया है और उनसे भी अधिक लोगों को कम-से-कम नीति और सदाचार के दृष्टिकोण से सोचने पर विवश होना पड़ा है और यह मानना पड़ा है कि विचार का कार्यों और व्यवहारों पर कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है। राजनीति अब केवल समयानुकूलता और अवसरवादिता नहीं रह गई है, जैसी कि वह साधारणतः सभी जगह रही है; बल्कि अब सोचने और कार्य करने से पहले लगातार एक नैतिक संघर्ष चलता रहता है। तात्कालिक वांछनीयता की उपेक्षा नहीं की जा सकती, अर्थात् जो बात तत्काल संभव और उचित प्रतीत होती है, उसे आंखों से ओझल नहीं किया जा सकता। फिर भी दूसरे कारणों से और दूरवर्ती परिणामों के फल-स्वरूप उसकी उग्रता कम हो जाती है।

इन विभिन्न दिशाओं में गांधीजी का प्रभाव सारे भारत में फैल गया है और अपनी छाप छोड़ गया है। किंतु उनके भारत के सर्वप्रमुख और सर्वोच्च नेता बनने का कारण उनका अहिंसात्मक या आर्थिक सिद्धांत नहीं है। भारत की बहुसंख्यक जनता के लिए वह उस भारत के प्रतीक हैं जिसने स्वतन्त्र होने का दृढ़ संकल्प कर रखा है। उसकी नजरों में वह युद्ध के लिए तत्पर राष्ट्रीयता के, अहंकार पूर्ण-बल के समक्ष सिर न झुकाने की दृढ़ प्रतिज्ञता के और राष्ट्रीय अपमान की किसी घटना को स्वीकार न करने के निश्चय के प्रतीक हैं। भारत के अनेकानेक लोग उनसे सैकड़ों बातों पर असहमत क्यों न हों, वे उनकी आलोचना क्यों न करते

हों और कुछ मसलों पर उनसे पृथक् भी क्यों न हो जाते हों, भारत की स्वतन्त्रता की बाजी लग जाने पर कार्य और संघर्ष के समय सब लोग फिर से उन्हें घेर लेते हैं और उनकी ओर अपने अनिवार्य नेता के रूप में निहारते हैं।

अहिंसा का प्रश्न

सन् १९४० में जब गांधीजी ने युद्ध और स्वतन्त्र भारत के भविष्य के संबंध में अहिंसा का प्रश्न उठाया तो कांग्रेस कार्यसमिति ने उसका पूरी तरह से सामना किया। समिति के सदस्यों ने साफ-साफ कह दिया कि जितनी दूर आप हमें ले जाना चाहते हैं उतनी दूर जाने में हम समर्थ नहीं और न हम विदेशी मामलों में अहिंसा के प्रयोग के लिए देश या कांग्रेस को वचनबद्ध ही कर सकते हैं। इसका नतीजा यह हुआ कि इस प्रश्न पर गांधीजी और कार्य समिति में एक निश्चित और स्पष्ट फूट पड़ गई। दो महीने बाद फिर से विचार-विनिमय करने पर एक सर्व-सम्मत युक्ति निकली जिसे बाद में कांग्रेस महासमिति ने अपने एक प्रस्ताव का अंग बना लिया। यह युक्ति गांधीजी की प्रवृत्ति का पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व नहीं करती थी। वह तो केवल उस बात का प्रतिनिधित्व करती है जिसका उन्होंने इस संबंध में कांग्रेस द्वारा कहा जाना बड़ी अनिच्छा के साथ स्वीकार कर लिया था। उस समय तक ब्रिटिश सरकार कांग्रेस के उस प्रस्ताव को ठुकरा चुकी थी जिसमें उसने राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के आधार पर युद्ध-प्रयत्न में भाग लेने की तत्परता व्यक्त की थी। किसी-न-किसी तरह का संघर्ष होने वाला था जैसा कि स्वाभाविक था, गांधीजी और कांग्रेस ने एक-दूसरे की तरफ देखा और उनमें आपसी गतिरोध को दूर करने की आकांक्षा उत्पन्न हुई। जो युक्ति सर्वसम्मति से स्वीकार की गई थी उसमें युद्ध का उल्लेख नहीं था; क्योंकि तभी-तभी कांग्रेस का सहयोग प्रस्ताव असम्मान के साथ और पूरी तरह से ठुकरा दिया गया था। उसमें सैद्धांतिक रूप में अहिंसा के संबंध में कांग्रेस-नीति का उल्लेख किया गया था और पहिली बार बताया

गया था कि किस प्रकार कांग्रेस की राय में स्वतन्त्र भारत को अपने विदेशी संबंधों में अहिंसा का प्रयोग करना चाहिए। प्रस्ताव का वह भाग इस प्रकार था—

"न केवल स्वराज्य के संघर्ष के लिए बल्कि जहां तक अमल में आ सकने की संभावना हो, स्वतन्त्र भारत के लिए भी कांग्रेस महासमिति अहिंसा की ही नीति और व्यवहार में दृढ़ विश्वास करती है। समिति को इस बात का विश्वास है, और हाल की अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने प्रदर्शित कर दिया है कि यदि संसार अपने को विनष्ट करना नहीं चाहता और फिर से पाशविकता की ओर नहीं जाना चाहता तो पूर्ण निश्शस्त्रीकरण और एक नई तथा अधिक न्यायपूर्ण राजनैतिक व आर्थिक व्यवस्था की स्थापना आवश्यक है। इसलिए स्वतन्त्र भारत अपना सारा जोर निश्शस्त्रीकरण के पक्ष में लगायेगा और इस दिशा में उसे संसार का स्वयं नेतृत्व करने के लिए तैयार रहना चाहिए। निश्चय ही यह नेतृत्व देश की आन्तरिक अवस्था और बाहरी तत्वों पर निर्भर होगा, किन्तु राज्य निश्शस्त्रीकरण की इस नीति को क्रियात्मक रूप देने के लिए भरसक प्रयत्न करेगा। सफल निश्शस्त्रीकरण के लिए और राष्ट्रीय युद्धों का अन्त करके विश्वशांति की स्थापना करने के लिए युद्ध और राष्ट्रीय संघर्षों के कारणों का दूर किया जाना आवश्यक है। एक देश पर दूसरे देश के प्रभुत्व और एक जाति या दल द्वारा दूसरी जाति या दल के शोषण का अन्त करके इन कारणों को निर्मूल कर देना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारत शांतिपूर्वक प्रयत्न करेगा और इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर भारतीय जनता एक स्वतन्त्र राष्ट्र का अस्तित्व प्राप्त करना चाहती है। यह स्वतन्त्रता विश्व-शांति और विश्व-उन्नति के लिए दूसरे स्वतन्त्र देशों के साथ निकट संपर्क की भूमिका होगी।"

आप देखेंगे कि इस घोषणा में जहां एक ओर शांतिपूर्ण कार्य और निश्शस्त्रीकरण के लिए कांग्रेस की आकांक्षा का दृढ़तापूर्वक समर्थन किया गया है वहां दूसरी ओर कितने ही शर्तों पर भी जोर डाला गया है।

दूसरी फूट

कांग्रेस का भीतरी संकट सन् १९४० में दूर हो गया और उसके बाद जो साल आया उसमें कांग्रेसियों की धड़ाधड़ गिरफ्तारियां हुईं। किंतु जब दिसंबर, १९४१ में गांधीजी ने पूर्ण अहिंसा का आग्रह किया तो फिर वही संकट उत्पन्न हो गया। एक बार फिर लोगों में फूट और मतभेद उत्पन्न हो गया और कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद तथा कितने ही दूसरे लोगों ने गांधीजी के दृष्टिकोण को स्वीकार करने में असमर्थता प्रकट की। स्पष्ट था कि इस मामले में कांग्रेस सामूहिक रूप में गांधीजी से असहमत थी। उसमें गांधीजी के कुछ कट्टर अनुयायी भी शामिल थे। परिस्थितियों और तीव्र वेग से घटनेवाली नाटकीय घटनाओं ने हम सब पर—यहां तक कि गांधीजी पर भी—प्रभाव डाला और यद्यपि उन्होंने कांग्रेस के मत को स्वीकार नहीं किया तथापि उससे अपनी बात मनवाने का आग्रह छोड़ दिया।

इसके बाद गांधीजी ने इस प्रश्न को कांग्रेस में कभी नहीं उठाया। बाद में जब सर स्टैफर्ड क्रिप्स अपने प्रस्ताव लेकर भारत आये तो अहिंसा का कोई सवाल ही नहीं था। उनके प्रस्तावों पर शुद्ध राजनैतिक दृष्टिकोण से विचार किया गया। इसके बाद के महीनों में—अगस्त, १९४२ तक—गांधीजी देशप्रेम और स्वतन्त्रता की उत्कट अभिलाषा से प्रेरित होकर कांग्रेस के युद्ध में शामिल होने तक के लिए तैयार हो गए, बशर्ते कि भारत स्वतन्त्र बना दिया जाय। उनके लिए यह एक अद्भुत और आश्चर्यजनक परिवर्तन था, जिसके कारण उनके मस्तिष्क और उनकी आत्मा दोनों को पीड़ा हुई। उनकी अन्तरात्मा में अहिंसा के सिद्धांत और भारत की स्वतन्त्रता के बीच जो संघर्ष चल रहा था उसमें स्वतन्त्रता का पक्ष भारी रहा। अहिंसा उनकी जीवनी-शक्ति थी, उनके जीवन-यापन का अर्थ थी और स्वतन्त्रता उनकी सबसे बड़ी, सबसे उत्कट आकांक्षा थी। किंतु स्वतन्त्रता की ओर अधिक झुकाव का यह अर्थ नहीं था कि अहिंसा में उनका विश्वास कम हो गया था।

हां, इसका यह अर्थ अवश्य था कि वह इस बात के लिए तैयार हो गये थे कि युद्ध में कांग्रेस अहिंसा का प्रयोग न करे। व्यावहारिक राजनीतिज्ञ ने युद्ध-प्रतिज्ञ देवदूत पर विजय पाई।

युद्ध भारत के निकटतर

युद्ध के भारत के निकट आ जाने से गांधीजी बड़े विचलित हुए। इस नई स्थिति के साथ अहिंसा की नीति और कार्यक्रम का मेल मिलाना आसान नहीं था। आक्रमण के लिए आती हुई किसी सेना के सामने या दो विरोधी सेनाओं के बीच सविनय अवज्ञा का कोई सवाल ही क्या हो सकता था? चुप बैठे रहना या आक्रमण को स्वीकार करने का भी कोई प्रश्न नहीं था। तो फिर क्या किया जाय? ऐसे अवसर के लिए कांग्रेस और गांधीजी के अपने साथियों ने भी अहिंसा को अस्वीकार कर दिया था और उसे आक्रमण के सशस्त्र विरोध का विकल्प नहीं माना था। स्वयं गांधीजी ने भी इतना तो मान लिया था कि इन्हें ऐसा करने का अधिकार है। फिर भी वह दुःखी थे और व्यक्तिगत रूप से किसी हिंसात्मक कार्यक्रम में भाग नहीं ले सकते थे। किंतु वह एक व्यक्ति से कहीं अधिक थे। राष्ट्रीय आंदोलन में उन्हें किसी अधिकारी का पद प्राप्त रहा हो या न रहा हो, उसमें उनका स्थान निश्चय ही अद्वितीय और सर्वप्रमुख था और उनके वचनों का बहुत बड़ी जनसंख्या पर प्रभाव पड़ता था।

भारत को—विशेषतः भारत के जनसाधारण को—जितना गांधीजी जानते थे उतना शायद ही किसी ने जाना हो या जानता हो। उन्होंने न केवल भारत के कोने-कोने की यात्रा की थी और वह न केवल लाखों के संपर्क में आये थे, बल्कि उनमें कोई और भी ऐसी वस्तु थी जिसने उन्हें जनसाधारण के भावपूर्ण संपर्क में आने के समर्थ बनाया था। वह अपने को जनता में विलीन कर सकते थे और उसके ही समान अनुभव भी कर सकते थे और चूंकि जनता इससे अनभिज्ञ नहीं थी इसलिए वह उनके प्रति श्रद्धा और भक्ति दिखलाती थी। फिर भी उनके भारत

संबंधी विचार कुछ सीमा तक उनके उस दृष्टिकोण के रंग में रंगे हुए थे जो उन्होंने गुजरात में अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में बना लिये थे। गुजराती शांतिप्रिय व्यापारी और सौदागर थे और उन पर जैन धर्मके अहिंसा के सिद्धांत का प्रभाव था। भारत के दूसरे भागों पर इस सिद्धांत का बहुत कम असर पड़ा था और कुछ पर तो बिलकुल ही नहीं। दूर-दूर तक फैली हुई योद्धा क्षत्रिय जाति ने इस सिद्धांत को युद्ध या जंगली जानवरों के शिकार के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करने दिया था। दूसरी जातियां, जिनमें ब्राह्मण भी शामिल थे, इससे बहुत ही कम प्रभावित हुई थीं। किंतु भारतीय विचारधारा और इतिहास के विकास के संबंध में गांधीजी के विचार स्वतन्त्र और अनेक सूत्रों पर आधारित थे। उन्हें इस बात का विश्वास था कि अहिंसा ही इस विकास का आधारभूत सिद्धांत थी, यद्यपि कितनी ही बार उसका अतिक्रमण अवश्य हुआ था। यह दृष्टिकोण एक दूरवर्ती दृष्टि कोण था और कितने ही भारतीय विचारक तथा इतिहासकार इससे सहमत नहीं थे। इसका मानव-जीवन की वर्तमान अवस्था में अहिंसा की उपयोगिता से कोई संबंध नहीं था, फिर भी इससे गांधीजी के चिंतन की ऐतिहासिक प्रवृत्ति का पता लगता था।

भूगोल का अब भी महत्त्व है और भविष्य में भी रहेगा, किंतु अब दूसरे तत्त्वों की उससे भी अधिक महत्ता हो गई है। पर्वत और समुद्र अब बाधक नहीं रह गये हैं, किंतु वे अब भी मनुष्य के चरित्र और देश की राजनैतिक तथा आर्थिक स्थिति की रूपरेखा निर्धारित करते हैं। विभाजन, पृथक्करण या विलय की नई योजनाओं पर विचार करते समय इनकी अवहेलना नहीं की जा सकती, सिवा उस अवस्था में जब ये योजनाएं किसी विश्वव्यापी आधार पर बनाई गई हों।

गांधीजी का भारत और भारतीय जनता का ज्ञान बड़ा गहरा है। यद्यपि उन्हें इतिहास में इतनी रुचि नहीं है और यद्यपि उनमें उस ऐतिहासिक चेतना का अभाव है जो कुछ लोगों में होती है तथापि वह भारतीय जनता के ऐतिहा-

सिक उद्गमों के प्रति पूर्णतः सचेत हैं और उन्हें उनकी निकट जानकारी भी है। सामयिक घटनाओं का उन्हें अच्छा ज्ञान है और उनका वह सावधानी के साथ अनुशीलन करते हैं, यद्यपि अनिवार्य रूप से अपना ध्यान आजकल की भारतीय समस्याओं पर ही केन्द्रित रख कर निस्सार बातों को छोड़ किसी समस्या या स्थिति के सार को समझ लेने की उनमें अपूर्व क्षमता है। वह सभी चीजों को उनके नैतिक पहलू से जांचते हैं, इसलिए उन्हे ये चीजें विस्तृत रूप में दिखाई दे जाती हैं और वह उन्हें निश्चयपूर्वक ग्रहण कर लेते हैं। बरनार्ड शा ने कहा है कि गांधीजी ने युक्ति संबंधी चाहे कितनी भी भूलें की हों, उनकी आधार भूत युद्ध-नीति अब भी ठीक ही होती है। किंतु अधिकांश लोग दूर की बातें नहीं सोचते। वे उपस्थित क्षण से कुशलतापूर्वक लाभ उठाने में ही ज्यादा दिलचस्पी लेते हैं।

आजादी की पुकार

भारत में कुछ ऐसे लोग भी थे जो युद्ध को विभिन्न युद्धरत देशों के राजनीतिज्ञों की लघु महत्वाकांक्षाओं से कहीं बड़ा और व्यापक समझते थे। वे उसकी क्रांतिकारी महत्ता का अनुभव करते थे और इस बात को समझते थे कि युद्ध और उसके परिणाम इस संसार को अंततः सैनिक विजयों और राजनीतिज्ञों के समझौतों व कथनो से कहीं आगे ले जायेंगे। किंतु निश्चय ही ऐसे आदमियों की सख्या बहुत कम थी और जैसा कि दूसरे देशो में भी होता है, अधिकाश लोग इस प्रश्न पर संकीर्ण दृष्टिकोण से विचार करते थे (जिसे वे यथार्थवादी दृष्टिकोण कहते थे) और केवल वर्त्तमान को दृष्टि में रखकर काम करते थे। अवसरवादी प्रवृत्ति के कुछ लोगों ने अपने को ब्रिटिश नीति के अनुकूल बना लिया, जैसा कि वे किसी भी दूसरे अधिकारी या नीति के साथ करते। कुछ लोगों में इस नीति के विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया हुई और उन्होंने अनुभव किया कि ऐसी नीति के आगे सिर झुकाना भारत ही नहीं, बल्कि समस्त संसार के हित के

साथ धोखा करना है। अधिकांश लोग निश्चेष्ट, निष्क्रिय और मौन पड़े रहे। ये ही भारतीय जनता की वे पुरानी कमियां थीं जिनके विरुद्ध हम इतने दिनों से लड़ते आ रहे थे।

जब कि भारतवासियों के मस्तिष्क में यह संघर्ष चल रहा था और निराशा की भावना बढ़ती जा रही थी, गांधीजी ने कई लेख लिखे जिनसे लोगों की विचारधारा को एकाएक नई दिशा मिली या, जैसा कि अक्सर होता है, इन लेखों से उनके अनिश्चित विचारों को एक निश्चित रूप मिला। उस संकटजनक स्थिति में निष्क्रिय रहना या जो कुछ भी हो रहा था उसके आगे सिर झुकाना गांधीजी को असह्य हो गया था। उस स्थिति का सामना करने का एकमात्र उपाय यह था कि भारत की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली जाय और मित्र राष्ट्रों के सहयोग से आक्रमण और युद्ध का मुकाबला किया जाय। इस स्वीकृति के न मिलने पर प्रचलित प्रणाली को चुनौती देने और जिस तन्द्रा में पड़कर जनता अशक्त व हर तरह से आक्रमण का आसान शिकार बन गई थी उससे उसे उठाने के लिए कुछ-न-कुछ करना जरूरी था।

यह माग कोई नई मांग नहीं थी, क्योंकि इसमें वे ही बातें दुहराई गई थीं जो हम सदा से कहते आये थे। किंतु गांधीजी के भाषणों और लेखो में एक नई प्रेरणा और एक नया आग्रह था और था कार्य करने की ओर इशारा। उस समय वह जो कह या लिख रहे थे वही निस्संदेह सारे भारत की भावना थी। राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता के संघर्ष में विजय राष्ट्रीयता की हुई थी और गांधीजी के नये लेखों ने सारे भारत में हलचल मचा दी। फिर भी वह राष्ट्रीयता कभी अन्तर्राष्ट्रीयता के विरुद्ध नहीं रही और सच पूछिये तो अपने में और अन्तर्राष्ट्रीयता में किसी प्रकार मेल-मिलाप का रास्ता ढूंढ़ने का अधिक-से-अधिक प्रयत्न कर रही थी, बशर्ते कि उसे यह काम सम्मानपूर्वक और कारगर तरीके से करने का अवसर दिया जाता। दोनों में कोई आवश्यक अंतर नहीं था, क्योंकि यूरोप की राष्ट्रीयताओं की तरह उसका

ध्येय दूसरों के काम में हस्तक्षेप करना नहीं, बल्कि समान हित के लिए सहयोग करना था। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता सच्ची अन्तर्राष्ट्रीयता का आवश्यक आधार मानी जाती थी और इसलिए वह अन्तर्राष्ट्रीयता तक पहुंचने का मार्ग तथा फासिस्ट-वाद व नात्सीवाद के विरुद्ध समान संघर्ष में सहयोग देने की वास्तविक नींव समझी जाती थी। इधर जिस अन्तर्राष्ट्रीयता की इतनी चर्चा थी वह साम्राज्यवादियों की पुरानी नीति की भांति एक नये भेष में (बहुत ज्यादा नये नहीं) संदिग्ध दिखाई देने लगी थी। सच पूछिये तो वह स्वयं आक्रमणकारी राष्ट्रीयता थी, जो साम्राज्य या राष्ट्रसमूह या शासनाविष्ट प्रदेश के नाम में दूसरों पर अपनी सत्ता लाद रही थी।

अन्तर्राष्ट्रीय विचार

इस नई स्थिति से हममें से कुछ लोग चिंतित और विचलित हुए, क्योंकि काम जब तक कारगर न हो तब तक उसका होना न होना बराबर था; और जो काम कारगर होता उसका—एक ऐसे समय में जब स्वयं भारत पर आक्रमण का खतरा था——युद्ध-प्रयत्न में बाधक होना अनिवार्य था। गांधीजी की विचारधारा में भी महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय तत्त्वों की अवहेलना कीगई दिखाई देती थी और वह राष्ट्रीयता के संकीर्ण दृष्टिकोण पर आधारित मालूम होती थी। युद्ध के पिछले तीन साल में हमने जानबूझकर तंग न करने की नीति का अनुसरण किया था और अगर वैसा कुछ किया भी था तो केवल सांकेतिक विरोध के रूप में। सन् १९४०-४१ में जब हमारे देश के ३० हजार प्रमुख स्त्री-पुरुष जेलों में ठूंस दिये गये तो इस सांकेतिक विरोध ने विशाल रूप धारण कर लिया। यह जेल-यात्रा भी कुछ चुने हुए व्यक्तियों ने ही की। सामूहिक हलचलें और सरकारी व्यवस्था में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप करने की चेष्टा नहीं की गई। हम इन बातों को दुहरा नहीं सकते थे और इनके अलावा जो कुछ भी करते उसका भिन्न ढंग का और अधिक कारगर होना अनिवार्य था। क्या इससे भारत के सीमांत पर होने वाले युद्ध में बाधा नहीं

पड़ती और दुश्मन को प्रोत्साहन नहीं मिलता ?

हमारे सामने ये स्पष्ट कठिनाइयां थीं और उनपर हमने गांधीजी के साथ विस्तारपूर्वक विचार-विनिमय किया, किंतु न हम उन्हें अपने मत के अनुकूल बना सके, न वह हमें अपने मत की ओर खींच सके। कठिनाइयां बनी रहीं और हम कुछ करते या न करते हमें हर स्थिति में संकट दिखाई दे रहा था। अतः हमें उनका संतुलन करना और उनमें से कम बुरे मार्ग को अपनाना था। हमारे पारस्परिक विचार-विनिमय से बहुत-सी बातें, जो पहले अनिश्चित और धुंधली थीं, स्पष्ट हो गईं और जिन अन्तर्राष्ट्रीय तत्त्वों की ओर गांधीजी का ध्यान आकर्षित किया गया उनमें से अनेक को उन्होंने स्वीकार कर लिया। इसके बाद उन्होंने जो कुछ लिखा उसमें परिवर्तन दिखाई दिया। उन्होंने स्वयं इन अन्तर्राष्ट्रीय तत्त्वों पर जोर दिया और भारत की समस्या पर एक अधिक विस्तृत दृष्टिकोण से विचार किया। फिर भी उनकी बुनियादी प्रवृत्ति बदली नहीं। अंग्रेजों की स्वेच्छाचारी और दमनकारी नीति के सामने निश्चेष्ट भाव से आत्मसमर्पण करने की भावना का विरोध करने तथा उसे चुनौती देने के लिए कुछ करने की उनकी उत्कट अभिलाषा बनी रही। उनका कहना था कि इस समय घुटने टेकने का अर्थ यह होगा कि भारत का आत्मिक बल टूट जायगा और युद्ध चाहे कोई भी रूप धारण करे और उसका चाहे कुछ भी अन्त हो, लोग दासों जैसा व्यवहार करने लगेंगे और स्वतन्त्रता बहुत समय तक अलभ्य हो जायगी। इसका एक अर्थ यह भी होगा कि आक्रमणकारी के सामने सिर झुकाना पड़ेगा और अस्थायी रूप से उसकी सैनिक हार होने या उसके पीछे हटने पर भी हम विरोध जारी नहीं रख सकेंगे। इसका अर्थ जनता का पूर्ण नैतिक पतन और उसके उस बल का ह्रास होगा जो उसने एक-चौथाई सदी तक लगातार स्वतन्त्रता-संग्राम लड़ते रहने के बाद अर्जित किया है। इसका यह भी अर्थ होगा कि दुनिया भारत की आजादी की मांग को भूल जायगी और युद्ध के बाद जो समझौता होगा वह पुरानी साम्राज्यवादी प्रेरणाओं और महत्त्वाकांक्षाओं से प्रभावित

होगा। चूंकि गांधीजी की भारत को स्वतन्त्र देखने की अभिलाषा बड़ी उत्कट थी इसलिए भारत उनके लिए केवल एक प्रिय मातृ-भूमि ही नहीं था; वह संसार के सभी उपनिवेश-निवासियों और पददलितों का प्रतीक था और थी वह कसौटी जिस पर कसकर ही किसी भी विश्वनीति की जांच की जा सकती थी। यदि भारत परतन्त्र रहता तो दूसरे उपनिवेश और दास राष्ट्र भी गुलामी की अपनी वर्तमान अवस्था में पड़े रहते और युद्ध निरर्थक सिद्ध होता। युद्ध के नैतिक आधार को बदलना आवश्यक था। यह संभव था कि थल, जल और आकाश-सेनाएं अपने-अपने क्षेत्र में कार्य करती हुई अधिक श्रेष्ठ हिंसात्मक युक्तियों का प्रयोग कर विजयी बनतीं, लेकिन आखिर उनको इस विजय का उद्देश्य क्या था ? और सशस्त्र युद्ध के लिए भी तो नैतिक समर्थन की आवश्यकता है। क्या नैपोलियन ने यह नहीं कहा था कि 'युद्ध में नैतिक शक्ति और शारीरिक शक्ति का वही अनुपात है जो तीन और एक का ?' संसार भर के जो करोड़ों गुलाम और शोषित नर-नारी यह समझते थे कि यह युद्ध वस्तुतः उनकी आजादी के लिए लड़ा जा रहा है, उनका नैतिक विश्वास युद्ध के संकीर्णतर दृष्टिकोण से भी बड़े महत्त्व का था। आनेवाली शांति के लिए तो उसका अधिक महत्त्वपूर्ण होना स्वाभाविक था ही। युद्ध के अंत का अनिश्चित हो जाना ही एक ऐसी घटना थी जिसके कारण दृष्टिकोण और नीति में परिवर्तन आवश्यक हो गया था और जो लाखों व्यक्ति उसकी ओर से उदासीन और सशंक हो गये थे उनमें उत्साह भरकर युद्ध का समर्थक बनाना जरूरी था। अगर यह जादू चल सकता तो धुरी राष्ट्रों की सारी सैनिक शक्ति निरर्थक हो जाती और उनका पतन निश्चित हो जाता। इतना ही नहीं, बल्कि धुरी राष्ट्रों में से ही बहुतों की जनता इस विश्वव्यापी शक्तिशाली भावना से अनुप्राणित हो उठती।

आक्रमणकारी का विरोध

भारत में जनता की उदासीन निश्चेष्टता को विरोध और आत्म समर्पण न करने की भावना में परिवर्तित करना ही ज्यादा अच्छा था। यद्यपि आरंभ में

आत्मसमर्पण न करने की इस भावना का लक्ष्य ब्रिटिश अधिकारियों के स्वेच्छाचारितापूर्ण आदेश ही होते, तथापि बाद में उसका प्रयोग आक्रमणकारी के विरोध में किया जा सकता था। किसी एक के सामने सिर झुकाने और गुलामी स्वीकार करने का परिणाम यह होता कि दूसरों के सामने भी ऐसा ही करना पड़ता और इस प्रकार अपना अपमान और पतन होता।

हम इस प्रकार के सभी तर्कों से परिचित थे। हम उनमें विश्वास करते थे और स्वयं हमने उनका अक्सर प्रयोग भी किया था। किंतु दुःख की बात यह थी कि ब्रिटिश सरकार की नीति ने इस जादू को पूरा होने से रोक दिया था और भारतीय समस्या को अस्थायी रूप से युद्धकाल तक के लिए भी सुलझाने की हमारी सारी चेष्टाएं असफल हो चुकी थीं और बराबर कहने पर भी ब्रिटिश सरकार ने अपने युद्ध उद्देश्यों की घोषणा नहीं की थी। यह निश्चित था कि आगे भी हम इस प्रकार के जो प्रयत्न करेंगे वे निष्फल रहेंगे। तो फिर क्या करना था? अगर हमारे आंदोलन को संघर्ष का रूप लेना था तो नैतिक और दूसरी दृष्टियों से वह चाहे कितना ही उचित क्यों न होता इसमें संदेह नहीं था कि ऐसे समय में जब कि भारत पर आक्रमण का काफी खतरा था उस संघर्ष से भारत के युद्ध-प्रयत्न में काफी हस्तक्षेप होता। हम लोग इस सत्य से बच नहीं सकते थे। फिर भी कितनी अजीब बात थी कि इसी खतरे के कारण हमारे मस्तिष्क में उथल-पुथल हुई थी! हम इन बातों के मौन दर्शक नहीं बन सकते थे और अपने देश को ऐसे व्यक्तियों द्वारा कुप्रबन्धित या नष्ट होते नहीं देख सकते थे जो हमारी दृष्टि में अयोग्य और जनता के विरोध के बोझ को वहन कर सकने में बिलकुल असमर्थ थे। हमारी सारी अवरुद्ध शक्ति और स्फूर्ति बाहर निकलने—कुछ कार्य करने—का मार्ग चाहती थी।

गांधीजी बूढ़े होते जा रहे थे। वह सत्तर को पार कर चुके थे और निरन्तर कार्य तथा कड़े मानसिक एवं शारीरिक श्रम ने उनकी काया को दुर्बल बना दिया

था। किंतु उनमें अब भी धीरज था और वह महसूस करते थे कि अगर इस समय मैंने परिस्थितियों के सामने सिर झुका दिया और जिस वस्तु को मैं सबसे बहुमूल्य समझता हूं उसे प्रकाश में लाने के लिए कुछ नहीं करता तो उनके जीवन का सारा कार्य ही निरर्थक हो जायेगा। भारत और सभी दूसरे शोषित देशों की स्वतन्त्रता के लिए उनके हृदय में जो प्रेम था उसने उनके कट्टर अहिंसावाद तक पर विजय पाई। पहले जब कांग्रेस ने देश की रक्षा और राज्य के संकटकालीन कार्यों में अहिंसा की नीति का पालन न करने का निश्चय किया था तो गांधीजी ने उसे बड़े अनिच्छा और असंतोष के साथ स्वीकृति दी थी और उससे वह अपने को सदा अलग रखते आये थे। उन्होंने देखा कि इस मामले में इस तरह की विविधपूर्ण नीति से ब्रिटेन और अमरीका से समझौता करने में बाधा पड़ेगी। इसलिए उन्होंने और आगे कदम बढ़ाया और कांग्रेस की ओर से खुद एक प्रस्ताव रखा जिसमें इस बात की घोषणा की गई कि स्वतन्त्र भारत की अस्थायी सरकार का पहला काम स्वतन्त्रता के पक्ष में और आक्रमणकारी कार्यों के विरोध में अपने समस्त महान् साधनों को जुटा देना होगा और अपनी सशस्त्र तथा दूसरी तरह की समस्त शक्तियों से भारत की रक्षा में संयुक्त राष्ट्रों के साथ सहयोग करना होगा। इस प्रकार अपने को वचनबद्ध कर लेना उनके लिए आसान नहीं था, किंतु भारत को एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में आक्रमणकारी का विरोध करने में समर्थ बनाने के लिए किसी-न-किसी प्रकार का समझौता कर लेने की उनकी आकांक्षा इतनी प्रबल थी कि उन्होंने यह कड़वी घूंट पी ही ली।

जो सैद्धांतिक और अन्य भेद हममें से कुछ लोगों को अक्सर गांधीजी से अलग रखते आये थे, उनमें से अधिकांश अदृश्य हो गये। किंतु अब भी यह बड़ी कठिनाई रह ही गई कि हम कोई भी काम करें उससे युद्धप्रयत्न में बाधा अवश्य पड़ेगी। हमें यह जानकर आश्चर्य हुआ कि गांधीजी तब भी अपने इसी विश्वास पर अटल थे कि ब्रिटिश सरकार से समझौता संभव है और उन्होंने कहा कि इसे पूर्ण करने

के लिए वह भरसक प्रयत्न करेंगे। इसलिए यद्यपि वह 'कार्य करो' 'कार्य करो' की रट लगाते रहे तथापि उन्होंने उसकी व्याख्या नहीं की और न यही संकेत किया कि वह क्या करना चाहते थे।

भारत की मनःस्थिति में परिवर्तन

इस प्रकार जब हम शंका और तर्क-वितर्क कर रहे थे, देश की मनःस्थिति बदल गई और उदासीन निश्चेष्टता के गर्त से निकलकर वह उत्तेजना और आशा के क्षेत्र में पहुंच गई। घटनाएं कांग्रेस के निर्णय या प्रस्ताव की प्रतीक्षा में नहीं रहीं, गांधीजी के वक्तव्यों और भाषणों ने उन्हें आगे बढ़ा दिया था और वे अपने ही बल पर आगे बढ़ रही थीं। यह बात स्पष्ट थी कि गांधीजी ठीक हों या गलत, उन्होंने जनता की तत्कालीन मनोदशा को पाषाण जैसा बना दिया था। उसमें एक प्रकार की व्यग्रता थी—एक प्रकार की भावुकतापूर्ण प्रेरणा, जिसने तर्क और विचार-शक्ति को तथा परिणामों पर शांत रूप से विचार करने की आवश्यकता को गौण बना दिया था। इन परिणामों की अवहेलना नहीं की गई और यह बात हमने समझ ली थी कि किसी काम में सफलता मिले या न मिले, मानवीय यातना के रूप में जो कीमत चुकाई जायेगी वह बहुत बड़ी होगी। किंतु मानसिक पीड़ा के रूप में जो कीमत चुकाई जा रही थी वह कम बड़ी नहीं थी और उससे बचने की कोई सूरत नहीं दिखाई दे रही थी। ज्यादा अच्छा यही था कि दुर्भाग्य का कमजोर शिकार बनने की बजाय हम कार्य के अथाह सागर में कूद पड़ें। यह किसी राजनीतिज्ञ का समाधान नहीं था, किंतु एक ऐसे राष्ट्र का समाधान था जो निराशा और परिणामों की ओर से लापरवाह हो गया था। फिर भी विवेक से कार्य किया जा रहा था, संघर्षशील भावनाओं को तर्कसंगत बनाने की चेष्टा की जा रही थी और मानव चरित्र की बुनियादी असंगतियों में एक प्रकार की संगति ढूंढने का प्रयत्न किया जा रहा था। लड़ाई लंबी दिखाई देती थी, वह कई सालों तक चलनेवाली थी। कितनी ही बर्बादियां हो चुकी थीं और कितनी ही होने वाली थीं; किंतु इन सब

बातों के बावजूद युद्ध का उस समय तक चलता रहना अनिवार्य था जब तक कि वे दुर्वासनाएं, जिन्होंने उस युद्ध का जन्म दिया था और जिन्हें स्वयं उस युद्ध ने प्रोत्साहन दिया था काबू में न आ जातीं। इस बार अर्द्ध सफलताएं नहीं मिलनी चाहिए थीं जो अक्सर असफलता से भी अधिक कष्टदायक होती हैं। युद्ध में सैनिक क्रिया के ही क्षेत्र में नहीं, बल्कि उन अधिक बुनियादी लक्ष्यों के क्षेत्र में भी, जिनके लिए कि युद्ध लड़ा जा रहा था, गलत दिशा ग्रहण कर ली थी। हम जैसा भी कार्य करते उससे शायद बुनियादी लक्ष्यों की असफलता की ओर जबरदस्ती ध्यान आकर्षित हो जाता और वह कार्य उस असफलता को एक नया तथा आशाप्रद रूप प्रदान करने में सहायता देता। और अगर इस समय सफलता न भी मिलती तो उससे आगे चलकर बचाने का ध्येय पूरा होता और इस प्रकार भविष्य में सैनिक कार्रवाई को शक्तिशाली समर्थन प्रदान करने में भी सहायता मिलती।

जनता के साथ-साथ सरकार की भी सरगर्मी बढ़ी। इसके लिए किसी प्रकार की प्रेरणा की आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि यह तो सरकार की स्वाभाविक सरगर्मी थी, उसके कार्य करने का आम तरीका था—एक गुलाम मुल्क पर सत्ता जमाये बैठी एक विदेशी सरकार का ढंग था। ऐसा मालूम होता था जैसे वह अपनी हुकूमत का विरोध करने वाले इस देश के सभी तत्त्वों को सदा के लिए कुचल देने के इस अवसर का स्वागत कर रही हो और तदनुसार उसने अपने को इसके लिए तैयार कर लिया।

समझौते के लिए अपील

घटनाचक्र तेजी से चलता रहा। फिर भी ताज्जुब है कि जो गांधीजी इतना कहा करते थे कि हमें कुछ-न-कुछ करना चाहिए जिससे भारत की मर्यादा की रक्षा हो और उसे स्वतन्त्र बनाने तथा एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में आक्रमण के विरुद्ध लड़ी जाने वाली लड़ाई में सहयोग देने का अधिकार मिले, वही इस कार्य की रूपरेखा के संबंध में कुछ नहीं बोले! कार्य का शांतिपूर्ण होना तो जरूरी था ही,

किंतु इसके अलावा ? गांधीजी ब्रिटिश सरकार के साथ समझौते की संभावना पर ज्यादा जोर देने लगे और उससे लिखा पढ़ी करके समझौते का रास्ता निकालने के लिए अधिक-से-अधिक प्रयत्न करने की अपनी इच्छा प्रकट करने लगे। कांग्रेस महासमिति के सामने उन्होंने जो अंतिम भाषण दिया था उसमें उन्होंने समझौते के लिए हार्दिक अपील की थी और इस संबंध में वाइसराय से लिखापढ़ी करने के संकल्प की घोषणा की थी। एक बार को छोड़कर उन्होंने न तो सार्वजनिक रूप से और न कांग्रेस कार्यसमिति की बैठकों के भीतर खानगी तौर पर ही इस बात का संकेत किया कि वह जो कार्य सोच रहे हैं उसकी रूपरेखा क्या होगी। निजी तौर पर उन्होंने यह सुझाव रखा था कि अगर समझौते के सभी प्रयत्न निष्फल रहे तो वह किसी किस्म के असहयोग और एक दिन की विरोधात्मक हड़ताल या एक दिन की आम हड़ताल के रूप में सारे देश में काम बन्द करने की अपील करेंगे जो कि राष्ट्र के विरोध का संकेत होगा। यह भी एक अनिश्चित-सा ही सुझाव था जिसकी विस्तृत बातें उन्होंने नहीं बताईं; क्योंकि समझौते के लिए चेष्टा किये बगैर वह कोई नई योजना नहीं बनाना चाहते थे। इसलिए न तो उन्होंने और न कांग्रेस ने ही निजी या सार्वजनिक रूप से किसी प्रकार का निर्देश दिया, सिवा यह कहने के कि जनता को हर तरह की स्थिति के लिए तैयार रहना चाहिए और शांतिपूर्ण तथा अहिंसात्मक कार्य की नीति का पालन करना चाहिए।

यद्यपि गांधीजी को अब भी गतिरोध के दूर होने की कोई सूरत निकल आने की आशा थी, तथा औरों में यह आशावादिता बहुत ही कम थी। इस बीच में जो घटनाएं हुई थीं, वे भी अनिवार्य रूप से संघर्ष की ओर ही इशारा कर रही थीं। ऐसी स्थिति में बीच की बातों का महत्त्व जाता रहता है और प्रत्येक व्यक्ति को यह निश्चय कर लेना पड़ता है कि उसको इधर रहना है या उधर। जहां तक कांग्रेस का सवाल है, उसके जो सदस्य इस दृष्टिकोण से सोचते थे उनके लिए और कोई चारा ही नहीं था। यह बात अकल्पनीय थी कि एक शक्तिशाली सरकार

अपने पूरे बल के साथ जनता को कुचलने का प्रयत्न करे और हम लोग उस संघर्ष को, जिसमें भारत की स्वतन्त्रता निहित थी, चुपचाप निश्चेष्ट बने देखते रहें। यह तो सच है कि बहुत-से लोग सहानुभूति रखते हुए भी निश्चेष्ट ही बने रहे, लेकिन अपने पहले के कामों के परिणामों से इस प्रकार बचने का प्रयत्न करना किसी भी प्रमुख कांग्रेसी के लिए लज्जा और अपमान की बात होती। इतने पर भी उनके सामने और दूसरा रास्ता नहीं था। भारत का सारा विगत इतिहास उनकी आंखों के सामने था और वर्तमान की पीड़ाएं तथा भविष्य की आशाएं भी प्रत्यक्ष थीं। ये सब बातें उन्हें भविष्य की ओर ढकेल रही थीं तथा उनके कामों को प्रभावित कर रही थीं। बर्गसां ने अपनी 'क्रियेटिव इवोल्यूशन' (रचनात्मक विकास) नामक पुस्तक में लिखा है—"अतीत का अतीत पर जमा होते रहने का क्रम निरन्तर चलता रहता है। सच पूछिये तो अतीत अपने आप और अनायास ही संचित होता रहता है। अपने संपूर्ण रूप में वह शायद हमारा हर कदम पर पीछा करता है। .....यह तो ठीक है कि विचार करते समय अतीत का एक छोटा भाग ही सामने रहता है, किन्तु इच्छा करते समय, संकल्प करते समय और कार्य करते समय हमारा सारा भूत—जिसमें हमारी आत्मा की मौलिक प्रवृत्ति भी शामिल है—हमारे सामने रहता है।"

'भारत छोड़ो' प्रस्ताव

७ और ८ अगस्त, १९४२ को बंबई में कांग्रेस महासमिति ने सार्वजनिक रूप से उस प्रस्ताव पर विचार किया जो 'भारत छोड़ो आंदोलन' के नाम से पुकारा जाता है। वह एक लंबा और विस्तृत प्रस्ताव था, जिसमें भारत की स्वतन्त्रता को फौरन स्वीकार करने और केवल भारत के ही हित में नहीं, बल्कि संयुक्त राष्ट्रों के हित की सफलता के लिए भी भारत से ब्रिटिश राज उठा लेने के लिए विचारपूर्ण तर्क दिये गये थे। उसमें कहा गया था कि भारत में ब्रिटिश राज के जारी रहने से

भारत का पतन हो रहा है, वह कमजोर बनता जा रहा है और उसकी अपनी रक्षा करने तथा विश्व-स्वतन्त्रता के पक्ष में योग देने की शक्ति दिन-पर-दिन घटती जा रही है।....साम्राज्य का स्वामी बनना शासकों की शक्ति को बढ़ाने के बजाय उनके लिए एक बोझ और एक शाप बन गया है। आधुनिक साम्राज्यवाद का आदर्श उदाहरण भारत ही सारी समस्या का केन्द्र बन गया है; क्योंकि भारत की स्वतन्त्रता की ही कसौटी पर ब्रिटेन और अमरीका परखे जायेंगे और उसीसे एशिया तथा अफ्रीका की जनता को आशा तथा उत्साह प्राप्त होगा। प्रस्ताव में विभिन्न दलों के सहयोग से निर्मित एक ऐसी अस्थायी सरकार की स्थापना का सुझाव रखा गया था जो जनता के सभी प्रमुख वर्गों का प्रतिनिधित्व करे और जिसका मुख्य कार्य अपनी समस्त सशस्त्र और अहिंसात्मक शक्तियों और मित्रराष्ट्रों के सहयोग से भारत की रक्षा करना तथा आक्रमण का विरोध करना होगा। यह सरकार विधान परिषद् की योजना तैयार करेगी और यह विधान परिषद् भारत के सभी वर्गों द्वारा स्वीकृत किये जाने योग्य विधान बनायेगी। यह विधान एक संघीय विधान होगा जिसकी विभिन्न इकाइयों को अधिक-से-अधिक स्वराज्य और अवशिष्ट अधिकार प्राप्त होंगे। "स्वतन्त्रता भारत को इस योग्य बना देगी कि वह जनता की संयुक्त इच्छा-शक्ति और बल की सहायता से आक्रमण का सफलतापूर्वक विरोध कर सके।"

प्रस्ताव में कहा गया था कि भारत की यह स्वतन्त्रता एशिया के सभी दूसरे देशों की स्वतन्त्रता का प्रतीक और भूमिका होनी चाहिए। इसके अलावा सभी स्वतन्त्र राष्ट्रों का एक विश्व-संघ बनाने का प्रस्ताव रखा गया था और कहा गया था कि इसका सूत्रपात संयुक्त राष्ट्र करें।

महासमिति ने अपने प्रस्ताव में यह आश्वासन दिया था कि वह चीन और रूस की रक्षा के मार्ग में किसी प्रकार की रुकावट डालना नहीं चाहती; क्योंकि उनकी स्वतन्त्रता कीमती है और उनकी रक्षा अवश्य होनी चाहिए (उस समय

सबसे अधिक खतरा चीन और रूस को ही था)। महासमिति ने संयुक्त राष्ट्रों की रक्षात्मक शक्ति को भी आघात न पहुंचाने का आश्वासन दिया था किंतु कहा था— "लेकिन खतरा इन दोनों देशों के साथ-ही-साथ भारत के लिए भी बढ़ता जा रहा है और इस अवसर पर किसी विदेशी शासक के आगे घुटने टेकने और निश्चेष्ट बने रहने से न केवल भारत का पतन हो रहा है और उसकी अपनी रक्षा करने व आक्रमण का विरोध करने की शक्ति कम होती जा रही है, बल्कि निश्चेष्टतासे बढ़ते हुए संकट का सामना करने में कोई भी मदद नहीं मिल सकती और न संयुक्त राष्ट्रों की ही कोई सेवा हो सकती है।"

विश्व-स्वतन्त्रता के हित में समिति ने एक बार फिर ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्रों से अपील की, किंतु उसने कहा कि "जो साम्राज्यवादी सरकार भारतीय जनता पर प्रभुत्व जमाये बैठी है और उस जनता को अपने तथा मानवता के हित में कार्य करने से रोकती है उसके खिलाफ आत्मबल लगाने से राष्ट्र को रोकना महासमिति अब उचित नहीं समझती। इसलिए यह महासमिति भारत के स्वतन्त्र होने के अभिन्न अधिकार को प्रकाश में लाने के लिए गांधीजी के अनिवार्य नेतृत्व में अहिंसात्मक प्रणाली पर जन-संग्राम आरंभ करने की अनुमति देने का निश्चय करती है।" इस कार्य के आरंभ करने का समय गांधीजी के निर्णय पर छोड़ दिया गया था और अंत में यह भी बताया गया था कि "महासमिति कांग्रेस के लिए शक्ति प्राप्त करना नहीं चाहती। वह शक्ति जब आएगी तो वह भारत की समस्त जनता की शक्ति होगी।"

अपने अंतिम भाषणों में कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना अबुलकलाम आजाद ने तथा गांधीजी ने यह स्पष्ट कर दिया कि उनका अगला कदम ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि वाइसराय से मिलना और संयुक्त राष्ट्रों के प्रमुख अधिकारियों से एक ऐसे सम्मानपूर्ण समझौते के लिए अपील करना होगा जिसमें भारत की स्वतन्त्रता स्वीकार की गई होगी और जो आक्रमणकारी धुरी-राष्ट्रों के विरुद्ध संयुक्त-राष्ट्रों

के प्रयत्न को हित-वृद्धि करेगा।

यह प्रस्ताव अंतिम रूप से ८ अगस्त, १९४२, को काफी रात गये पास हुआ। कुछ ही घंटो बाद अर्थात् ९ अगस्त को बड़े तड़के बंबई मे और देशभर में बहुत-सी गिरफ्तारियां की गई।[1]

आजादी के बाद

हमारी चिर आकांक्षित स्वतन्त्रता हमें मिल गई और कम-से-कम हिंसा के साथ मिल गई; किंतु उसके फौरन बाद ही हमें लहू और आंसुओं के पारावार में से होकर गुजरना पड़ा। उस लहू और उन आंसुओं से भी बुरी वह शर्म थी और अपमान था, जिनकी अनुभूति हमें उनके कारण हुई।

हमारे नैतिक सिद्धांत और मापदण्ड उस समय कहां चले गये थे? उस समय हमारी पुरानी संस्कृति, हमारी मानवीयता और हमारी वह आध्यात्मिकता कहां चली गई थी, जिसका समर्थन भारत इतने दिनों से करता आया था? एकाएक देश पर अंधकार छा गया और लोग पागल हो उठे। भय और घृणा ने हमें अंधा बना दिया और संस्कृति हमें जितने भी संयम के पाठ पढ़ाती है वे सब भुला दिये गए। भयंकरता पर भयकरता की तह लगती गई और मानवों की क्रूर पाशविकता ने हमें एक आकस्मिक शून्यता से भर दिया। सारा प्रकाश बुझता हुआ प्रतीत हुआ—नहीं, सारा नहीं; क्योंकि उस तूफान के हाहाकार मे भी कुछ ज्योतियां टिमटिमाती हुई दिखाई दीं। जो मर चुके थे और मर रहे थे और जिनकी यातना मृत्यु से भी अधिक कष्टकारी थी उनके लिए हम शोक कर रहे थे। इससे भी अधिक हम शोक कर रहे थे भारत के लिए, जो सबकी माता थी और जिसकी

[1] गांधीजी ६ मई, १९४४ तक नजरबन्द रखे गये। उसके बाद सख्त बीमार हो जानेपर वे रिहा कर दिए गए।



स्वतन्त्रता के लिए हम इतने वर्षों से अपना खून और पसीना एक करते आये थे।

सारे प्रकाश बुझते हुए दिखाई दिये; किंतु एक उज्वल ज्योति तब भी जलती रही और चारों ओर फैले हुए अंधकार में अपना प्रकाश फैलाती रही। उस पवित्र ज्योति को देखकर हममें शक्ति और आशा का फिर से संचार हुआ और हमने महसूस किया कि हमपर कितनी ही क्षणिक विपदाएं क्यों न पड़ें, भारत की शक्तिमय और अविचलित आत्मा वर्तमान उपद्रवों से ऊपर उठकर दिन-प्रतिदिन के छोटे-छोटे संकटों की अवहेलना करती रहेगी।

इस बात को कितने लोग समझते हैं कि इन दिनों महात्मा गांधी की उपस्थिति का भारत के लिए कितना महत्व रहा है। पिछले पचास साल या इससे भी ज्यादा से वह देश और स्वतन्त्रता के लिए जो महान् सेवाएं करते आये हैं उनसे हम सब परिचित हैं; किंतु जो सेवाएं उन्होंने पिछले चार महीनों में कीं वे निस्संदेह अतुलनीय हैं। इस विनष्ट होते हुए संसारमें वह संकल्प की चट्टान और सत्य के आकाश-दीप की भांति खड़े रहे हैं और उनकी मन्द किन्तु दृढ़ आवाज भीड़ के होहल्ले से ऊपर उठकर सत्कार्य के मार्ग दिखाती रही है।

यह इसी दिव्य-प्रकाश का प्रभाव था कि भारत और भारतीय जनता में हमारा विश्वास नष्ट नहीं होने पाया। फिर भी चारों तरफ छाया हुआ अंधकार स्वयं एक संकट था। जब स्वतन्त्रता के सूर्य का उदय हो चुका था तो उस अंधकार ने हमें फिर क्यों ग्रसित किया?

इसलिए यह आवश्यक है कि हम कुछ रुककर इन आधारभूत तत्त्वों पर थोड़ी देर विचार करें; क्योंकि इस समय भारत के भविष्य का निर्माण हो रहा है और यह भविष्य वैसा ही होगा जैसा हमारे लाखों नौजवान स्त्री और पुरुष बनाना चाहते हैं।

युद्ध से शिक्षा

आज हममें संकीर्णता और असहिष्णुता आ गई है और साथ ही बेसमता

तथा सावधानी का अभाव दिखाई देता है। इन बातो से मुझे भय होता है। अभी-अभी हम एक विश्वव्यापी महासमर में से होकर गुजर रहे हैं। वह युद्ध हमें शांति और स्वतन्त्रता तो नहीं दे सका है, किंतु उससे हम कितनी ही शिक्षाए ग्रहण कर सकते हैं। जो वस्तु फासिस्टवाद और नात्सीवाद कहकर पुकारी जाती थी उसका उसने सहार किया। ये दोनो ही सिद्धात संकीर्ण और क्रूर थे और घृणा तथा हिंसा पर आधारित थे। मैंने उनके विकास का उनके जन्मदाता देशो में और बाहर भी अध्ययन किया। कुछ समय के लिए तो उन्होंने जनता की प्रतिष्ठा बढ़ाई; किंतु साथ ही उनकी आत्मा का हनन भी कर दिया और विचार तथा आचार-व्यवहार के समस्त मूल्य और माप-दण्ड को नष्ट कर दिया। जिन देशों का वे उत्कर्ष करना चाहते थे उनका अत में सर्वनाश कर डाला।

आज मै भारत में भी कुछ ऐसे ही तत्त्वों को फलते-फूलते देख रहा हूं। बाते तो वह तत्त्व राष्ट्रीयता के नाम में करता है—कभी-कभी धर्म और संस्कृति की भी दुहाई देता है, किंतु करता है वह राष्ट्रीयता, सच्ची नैतिकता और सच्ची संस्कृति के बिलकुल विपरीत। इस सबंध में यदि किसी को कुछ सदेह था तो पिछले महीनो की घटनाओं ने हमें नग्न सत्य का दिग्दर्शन करा दिया है। कुछ वर्षों से हमे अपने देश के एक संप्रदाय की घृणा, हिंसा और सकीर्ण साप्रदायिकता को इस नीति के विरुद्ध लडते रहना पडा है। अब उस साप्रदाय को भारत के ही कुछ हिस्सो में से अपना अलग राज्य बनाने में सफलता मिल गई है।

मुस्लिम सांप्रदायिकता, जो भारत की स्वतन्त्रता के लिए एक सकट और एक बाधा रही है, अब अपने को एक राज्य कहकर पुकारती है। भारत में एक जीवित प्रेरणा के रूप में आज उसका अस्तित्व समाप्त हो गया है; क्योंकि उसकी शक्ति अब दूसरे स्थानो में केंद्रित हो गई है। किंतु उसने हमारे देश के अन्य वर्गों को पतित बना दिया है, वे उसकी नकल करना चाहते हैं और उसमें सुधार तक करने की चेष्टा करते हैं।

भारत में अब हमें इस प्रतिक्रिया का सामना करना है। आज यहां भी साम्प्रदायिक राज्य की पुकार उठाई जाती है, यद्यपि उसके लिए दूसरे शब्द का प्रयोग किया जाता है। और केवल सांप्रदायिक राज्य की ही मांग नहीं उठाई जाती, बल्कि सभी राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में इसी प्रकार की संकीर्ण और घातक मांग उपस्थित की जाती है।

यदि हम भारत के लंबे इतिहास पर दृष्टिपात करें तो देखेंगे कि जब कभी हमारे पूर्वजों ने इस संसार की ओर निर्मल और निर्भय दृष्टि से देखा और अपने मस्तिष्क की खिड़कियों को आदान-प्रदान के लिए खुला रखा तभी उन्होंने आश्चर्यजनक उन्नति की। बाद में जब उनका दृष्टिकोण संकीर्ण हो गया और वे अपने को बाहरी प्रभावों से अलग रखने लगे तो भारत की राजनैतिक और सांस्कृतिक अवनति हुई। जिस परम्परा को आज हमने उत्तराधिकार में प्राप्त किया है, वह सचमुच कितनी महान् थी, यद्यपि हमने अक्सर उसका तिरस्कार किया है। बावजूद अपनी विपदाओं और यातनाओं के भारत सदा एक महत्वपूर्ण राष्ट्र रहा है और अब भी है। रचनात्मक और निर्माणात्मक क्षेत्रों की उसकी यह महत्ता एशिया के कितने ही और भागों में तथा अन्यत्र फैल गई और सर्वत्र उसकी शानदार विजय हुई। ये विजयें तलवार की नहीं, बल्कि मस्तिष्क और हृदय की थी जो शांतिदायक और चिरस्मरणीय होती है, जब कि तलवार का सहारा लेनेवाले आदमी और उनके काम विस्मृत हो जाते हैं। किंतु यदि उसी महत्ता का उचित और रचनात्मक ढंग से प्रयोग न हो तो वह घुन की तरह भीतर-ही भीतर देश को खा जाती है और उसे नष्ट तथा पतित कर देती है।

अपने संक्षिप्त जीवन में भी हम इन दोनों—रचनात्मक और विनाशात्मक—शक्तियों को केवल भारत में ही नहीं बल्कि सारे संसार में क्रियाशील रूप में देख चुके हैं। अंत में किसकी विजय होगी? और हम किस ओर हैं? यह प्रश्न हममें से प्रत्येक व्यक्ति के लिए और विशेष रूप से उन व्यक्तियों के लिए—

जिनमें से हम अपने नेता चुनते हैं और जिन पर भविष्य का भार निर्भर होता है—एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। यह संभव नहीं कि हम सामने बैठे रहें और समस्या का मुकाबला करने से इन्कार कर दें। यह भी सम्भव नहीं कि आज जब कि स्पष्ट विचार और प्रभावशाली कार्य की आवश्यकता है, हम अपने मस्तिष्क को दुर्वासना और घृणा के पंक में फंसने दें।

कैसा भारत?

हम किस तरह के भारत और किस तरह के संसार के लिए प्रयत्न कर रहे हैं? क्या हमारे भविष्य का निर्माण, घृणा, हिंसा, भय, सांप्रदायिकता और संकीर्ण प्रांतीयता द्वारा होगा? यदि हममें और हमारे पेशों में कणमात्र भी सचाई है तो ऐसा कदापि नहीं हो सकता। इलाहाबाद के इस शहर में, जो मुझे केवल इसलिए प्यारा नहीं कि उसके साथ मेरा घनिष्ट संबंध रहा है, बल्कि इसलिए भी कि उसका भारत के इतिहास मे बड़ा महत्त्व है, मेरा बचपन और युवावस्था भावी भारत के स्वप्न देखने तथा कल्पना करने में ही बीते हैं। इन स्वप्नो में कोई तथ्य था या वे केवल एक उत्तेजित मस्तिष्क की कोरी कल्पनाएं ही थीं? इन स्वप्नों में से कुछ तो सत्य सिद्ध हो चुके हैं; किंतु उस रूप में नहीं जिस रूप में मैंने कल्पना की थी। कितने ही स्वप्न अभी अधूरे हैं और अपनी सफलताओं पर विजय की अनभूति के बजाय हम अपने चारो ओर फैले हुए शोक पर एक शून्यता और निराशा का अनुभव कर रहे हैं। हमें लाखों की आंखों के आंसू पोछने हैं।

इसलिए हमें अपने राष्ट्रीय लक्ष्य के संबंध में कोई भ्रांति नहीं रहनी चाहिए। हमारा उद्देश्य एक शक्तिशाली, स्वतन्त्र और जनतन्त्रीय भारत है, जिसमें प्रत्येक नागरिक को समान स्थान और विकास व सेवा के लिए समान अवसर प्राप्त होगा, जिसमें आजकल की धन और सामाजिक मर्यादा संबंधी असमानताएं नहीं रह जायेंगी और जहां हमारी प्रमुख प्रेरणाएं रचनात्मक एवं सहयोगात्मक प्रयत्नों में लगी

रहेगी। ऐसे भारत में सांप्रदायिकता, पृथक्वाद, अलग रहने की नीति, छुआछूत, हठधर्मी और मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को कोई स्थान नहीं होगा, उसमें पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता होगी और धर्म को राष्ट्रीय जीवन के राजनैतिक और आर्थिक पहलुओं में हस्तक्षेप नहीं करने दिया जायगा।

यदि बात ऐसी है तो कम-से-कम राजनैतिक जीवन में हिंदू और मुसलमान और ईसाई और सिख की चर्चाएं बन्द होनी चाहिएं और हमें एक ऐसे संयुक्त तथा सम्मिलित राष्ट्र का निर्माण करना चाहिए जिसमें व्यक्तिगत और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता दोनों ही सुरक्षित होंगी।

हम बड़ी जबरदस्त अग्नि-परीक्षाओं में से होकर गुजरे हैं। हम उन्हें पार तो कर गये हैं, किंतु इसके लिए हमने बहुत बड़ी कीमत चुकाई है। इन परीक्षाओं ने हमारे उत्पीड़ित मस्तिष्कों और हमारी पंगु आत्माओं पर जो छाप छोड़ी है वह बहुत समय तक नहीं मिटेगी। ये परीक्षाएं अभी समाप्त नहीं हुई हैं। स्वतन्त्र और अनुशासनशील व्यक्तियों की तरह हमें इनका मजबूत हृदय और दृढ़ संकल्प के साथ सामना करना चाहिए और न सत्य मार्ग से विचलित होना चाहिए, न अपने आदर्शों और लक्ष्यों को ही भुलाना चाहिए। हमें जख्म भरने का यह कार्य आरंभ करना है और रचना तथा निर्माण कार्य करना है। भारत की घायल काया और घायल आत्मा पुकार-पुकार कर हमें अपने को इस महान् कार्य में संलग्न कर देने को कह रही है। ईश्वर करे, हम इस कार्य और भारत के योग्य बनें!

: ६ :

'चिराग़ गुल हो गया'[1]

मित्रो और साथियो, हमारे जीवन से प्रकाश निकल गया और सर्वत्र अंधकार ही अंधकार है।[1] मेरी समझ में नहीं आता कि आपसे क्या कहूं और कैसे कहूं। हमारा प्यारा नेता, जिसे हम बापू कहा करते हैं, हमारे राष्ट्र का वह पिता, अब नहीं रहा। शायद मैं ऐसा कहने में गलती कर रहा हूं। फिर भी अब हम उन्हें फिर नहीं देख सकेंगे जैसे कि इतने वर्षों से देखते आये थे। अब हम दौड़े-दौड़े उनके पास सलाह लेने नहीं जायेंगे, उनसे सान्त्वना नही पा सकेंगे। यह एक जबरदस्त चोट है—मेरे लिए ही नहीं, बल्कि देश के लाखो-करोड़ो निवासियो के लिए। उस चोट को किसी भी दूसरी सलाह से, जो मैं या कोई भी दूसरा आदमी आपको दे, कम करना कुछ कठिन मालूम होता है।

मैंने कहा कि प्रकाश बुझ गया, लेकिन यह ठीक नहीं, क्योंकि जो प्रकाश इस देश को आलोकित करता था वह कोई साधारण प्रकाश नहीं था। जो प्रकाश देश को इतने वर्षों से आलोकित करता आया है वह उसे अनेक वर्षों बाद भी आलोकित करता रहेगा। आज से हजार वर्ष बाद भी वह प्रकाश भारत में दिखाई देगा, उसे सारा ससार देखेगा और उससे अनगिनत हृदयो को शांति मिलेगी; क्योंकि वह प्रकाश निकट वर्तमान मात्र का प्रतिनिधित्व नही करता था, वह मूर्त्तिमान सत्य का प्रतिनिधित्व करता था—उन अमर सत्यो का जो हमें शुद्ध मार्ग का स्मरण

[1] ३० जनवरी १९४८ को गाधीजी की हत्या के तत्काल बाद आल इंडिया रेडियो, नई दिल्ली से दिया गया भाषण।

कराते थे---हमें भूल से अलग हटाते थे और इस प्राचीन देश को स्वतन्त्रता की ओर ले जाते थे।

यह सब एक ऐसे समय मे हुआ जब उन्हे और भी अधिक कार्य करना था। हम यह कभी सोच ही नहीं सकते थे कि वह हमारे लिए अनावश्यक है या उनका काम समाप्त हो चुका है। किंतु विशेष रूप से अब जबकि हमारे सामने इतनी सारी कठिनाइयां है, उनका हमारे साथ न होना एक भीषण और असहनीय आघात है।

एक पागल व्यक्ति ने उनके जीवन का अंत कर दिया है---जिसने ऐसा किया है उसे मैं पागल ही कह सकता हू; फिर भी पिछले कुछ वर्षों में देश में बहुत काफ़ी विष फैला है और उस विष ने हमारी जनता के मस्तिष्क पर भी असर किया है। हमें इस जहर का सामना करना चाहिए; उसे जड़मूल से नष्ट कर देना चाहिए साथ-ही-साथ हमें अपने चारो ओर फैले हुए संकटो का भी सामना करना चाहिए--पागलपन और बुराईके साथ नही, बल्कि उस ढंग से जो हमारे प्रिय गुरु ने हमें सिखाया था। इस समय हमें सबसे पहले यह बात याद रखनी है कि हम क्रोध के आवेश मे दुर्व्यवहार करने का दुस्साहस न करें। हमें बलवान और दृढ़प्रतिज्ञ लोगों की तरह काम करना है---इस निश्चय के साथ कि हम अपने चारों ओर छाये हुए संकटो का सामना करेंगे, हमारे महान् नेता और हमारे महान् गुरु ने हमें जो आदेश दिया है उसे पूरा करेंगे और सदा यह याद रखेंगे यदि उनकी आत्मा हमें देखती और हमें सुनती है---जैसा कि मुझे विश्वास है---तो उसे सबसे ज्यादा दुःख यह देखकर होगा कि हमने कोई तुच्छता या हिंसा का काम किया है।

इसलिए हमें ऐसा नहीं करना चाहिए। लेकिन इसका यह मतलब नही है कि हम कमजोर बनें, बल्कि यह कि हम ताकत और एकता के साथ अपने सामने आये हुए सारे कष्टो का सामना करें। हमें एक-दूसरे के साथ मिलकर रहना चाहिए और इस महान् विपत्ति के समय अपनी छोटी-छोटी कठिनाइयो, परेशानियों और मतमुटावो का अंत कर देना चाहिए। बड़ी विपत्तियां हमें संसार की बड़ी-बड़ी

बातों को याद रखने और उन छोटी-छोटी बातों को भुला देने का इशारा करती है जिनपर हम बहुत काफी सोचविचार कर चुके हैं।

कुछ मित्रों ने यह सुझाव रखा था कि महात्माजी का शव कुछ दिनों के लिए मसाला लगाकर रखा जाय, ताकि देश के लाखों नर-नारी उनके प्रति अपनी अंतिम श्रद्धांजलि अर्पित कर सकें; किंतु गांधीजी ने बार-बार इच्छा प्रकट की थी कि ऐसी कोई बात नहीं होनी या की जानी चाहिए। वह अपने शव को मसाले में रखने के बिलकुल खिलाफ थे।

कल का दिन हम सब के लिए उपवास और प्रार्थना का दिन होना चाहिए। जो लोग दिल्ली से बाहर और देश के दूसरे भागों में रहते हैं उन्हें भी अंतिम श्रद्धांजलि भेंट करने के इस काल में यथा संभव भाग अवश्य लेना चाहिए। उनके लिए भी यह दिन उपवास और प्रार्थना का दिन होना चाहिए। दाह-संस्कार के लिए निश्चित किए गए समय पर, अर्थात् कल तीसरे पहर चार बजे, सब लोगों को नदियों और समुद्रों के किनारे जाकर प्रार्थना करनी चाहिए। प्रार्थना करते समय सबसे बड़ी प्रार्थना जो हम कर सकते हैं वह इस बात का संकल्प करना है कि हम अपने को सत्य और उस हित की सेवा में समर्पित कर देंगे जिसके लिए हमारे देश का यह महान् सपूत जिया और मरा।

विगत गौरव

अपनी व्यक्तिगत हैसियत से और भारत सरकार का प्रधान होने के नाते मुझे इस बात पर घोर लज्जा आती है कि हम अपने सबसे बड़े खजाने को बचाने में असफल रहे। निश्चय ही यह हमारी असफलता है, वैसी ही जैसी पिछले कई महीनों में हमें अनगिनत निर्दोष पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों की रक्षा करने में मिली है। हो सकता है कि वह भार और वह काम हमारे लिए या किसी भी सरकार के लिए बहुत बड़ा रहा हो, फिर भी यह एक असफलता है और आज यह बात कि जिस महान् व्यक्ति के लिए हमारे हृदय में अगाध प्रेम था और सम्मान था वह हमारे बीच से

इसलिए उठ गया कि हम उसकी पूरी-पूरी रक्षा नहीं कर सके, हम सब के लिए एक लज्जा की बात है। एक भारतीय होने के नाते मैं इस बात से लज्जित हूं कि एक भारतीय ने उनपर अपना हाथ उठाया; एक हिंदू होने के नाते मैं शर्मिंदा हूं कि यह काम एक हिंदू ने किया और एक ऐसे व्यक्ति के साथ किया जो आजका सबसे बड़ा भारतीय और सबसे बड़ा हिंदू था।

हम लोगों की प्रशंसा चुने हुए शब्दों में किया करते हैं और महानता को परखने के लिए हमारे पास कोई-न-कोई कसौटी होती है, किंतु न हम गांधीजी की प्रशंसा कर सकते हैं, न उन्हे परख ही सकते हैं, क्योंकि वह उस साधारण मिट्टी के नहीं बने थे, जिसके हम सब बने हैं। वह आये, काफी लंबी आयु तक जीवित रहे, और चले गए। इस सभा में उनके लिए प्रशंसा के शब्दों की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उन्हें अपने जीवन में जितनी प्रशंसा मिली थी उतनी इतिहास के किसी भी व्यक्ति को अपने जीवन में नहीं मिली होगी और उनकी मृत्यु के बाद के इन दो-तीन दिनों में तो उन्हे सारे संसार ने श्रद्धांजलि अर्पित की है। उसमें हम और क्या जोड़ सकते हैं? हम उनकी किस तरह प्रशंसा कर सकते हैं?—हम, जो उनके बच्चे बने रहे हैं, हम जो शायद उनके शरीर से उत्पन्न बच्चों से भी अधिक उनके निकट संपर्क में रहे हैं, क्योंकि हम सभी लोग कम या अधिक मात्रा में उनकी आत्मा के बच्चे हैं, और हम जो उनके अयोग्य बच्चे साबित हुए हैं।

एक गौरव था जो कि अब नहीं रहा और वह सूर्य जो हमारे जीवन को गरमी और रोशनी पहुंचाता था अस्त हो गया और हम ठंड तथा अंधकार में कांप रहे हैं। किंतु गांधीजी कभी नहीं चाहते थे कि इतने गौरव को देख चुकने के बाद हम अपने हृदय में ऐसी अनुभूति को स्थान दें। दैवी ज्योतिवाला वह महापुरुष हमें लगतार बदलता रहा और आज हम जैसे है उसीके ढाले हुए हैं। उस दैवी ज्योति में से हममें से भी बहुतों ने एक चिनगारी ले ली, जिसने हमारी झुकी हुई पीठ सीधी कर दी और हमें कुछ सीमा तक उनके द्वारा निर्मित मार्ग पर चलने के योग्य

बनाया। इसलिए यदि हम उनकी प्रशंसा करते हैं तो हमारी प्रशंसा के शब्द उनके लिए बहुत छोटे मालूम देते हैं और उनकी प्रशंसा करने में कुछ-कुछ अपनी ही प्रशंसा कर बैठते हैं। बड़े-बड़े और प्रसिद्ध लोगों की स्मृति में कांसे या संगमरमर की मूर्तियां बनती हैं; किंतु दैवी ज्योति वाले इस व्यक्ति ने अपने जीवन काल में ही लाखों और करोड़ों के हृदय में स्थान पा लिया, जिसके फलस्वरूप हम सब भी कुछ-कुछ उसी धातु के बन गए हैं जिस धातु के वह बने थे, यद्यपि उनसे बहुत ही कम मात्रा में। उनका विस्तार सारे भारतवर्ष में था—केवल महलों या चुनी हुई जगहों या असेम्बलियों में ही नहीं, बल्कि नीचों और पीड़ितों की हर झोंपड़ी और हर कुटिया में। वह लाखों के हृदय में बसते हैं और अनन्त युगों तक बसे रहेंगे।

अतः इस अवसर पर सिर झुकाने के सिवा हम और क्या कह सकते हैं? जिनका हम पूरी तरह से अनुकरण नहीं कर सके, हम उनकी प्रशंसा करने के योग्य नहीं हैं। जब कि वह हमसे अत्यधिक कार्य, श्रम और त्याग करने को कहा करते थे, हमारा उनके लिए कुछ शब्दों भर का प्रयोग करना उनके प्रति अन्याय करना होगा। पिछले तीस साल या उससे कुछ अधिक में उन्होंने भारत को त्याग के उच्च शिखर पर पहुंचा दिया जिसकी बराबरी आज तक कहीं भी नहीं हो सकी है। इस कार्य में उन्हें सफलता मिली, फिर भी अन्त में ऐसी घटनाएं घटीं जिनके कारण उन्हें बड़ी तकलीफ हुई, यद्यपि उनके चेहरे पर से मुसकराहट की एक भी रेखा नहीं मिटने पाई और उन्होंने किसी के प्रति एक भी कठोर शब्द का प्रयोग नहीं किया। फिर भी जिन लोगों को उन्होंने सिखाया-पढ़ाया था उनकी ही कमियों के कारण उन्हें कष्ट अवश्य हुआ होगा। उन्हें यह कष्ट इसलिए सहना पड़ा कि जो मार्ग उन्होंने हमें दिखाया था उससे हम हट गये और अन्त में उनके ही एक बच्चे ने उनका अन्त कर दिया—निश्चय ही वह भी उनका उतना ही बच्चा है जितने कि हम।

जिस युग में हम रहते हैं उसका मूल्यांकन इतिहास युगों बाद करेगा। वह इस युग की सफलताओं और असफलताओं का निर्णय करेगा। हम इस युग के इतने निकट हैं कि क्या ठीक है और क्या ठीक नहीं इसको न हम समझ सकते हैं न उसके उचित पारखी ही बन सकते हैं। हम केवल इतना जानते हैं कि एक गौरव था जो अब नहीं रहा। हम केवल इतना जानते हैं कि इस समय अंधकार है—फिर भी अधिक गहरा अंधेरा नहीं, क्योंकि जब कभी हम अपने हृदय में झांककर देखते हैं हमें वह ज्योति दिखाई देती है जो हमने वहां जलाई थी। यदि ये जीवित ज्योतियां अक्षुण्ण रहीं तो इस भूमि में कभी अंधकार नहीं होगा और हम गांधीजी के साथ प्रार्थना करते हुए और उनके मार्ग का अनुकरण करते हुए अपने प्रयत्न से इस उनकी भूमि को फिर से आलोकित कर सकेंगे—हम, जो छोटे तो हैं, किंतु जिनमें जलाई हुए ज्योतियां आज भी जल रही हैं। अतीत भारत के वह शायद सबसे बड़े प्रतीक थे। मैं तो यह कहना चाहता हूं कि वह भावी भारत के भी सबसे बड़े प्रतीक थे। आज हम उसी अतीत और भविष्य के बीच वर्तमान के संकट-जनक युग में खड़े-खड़े सभी तरह के संकटों का सामना कर रहे हैं। इनमें सबसे बड़ा संकट विश्वास का अभाव, निराशा की भावना और हृदय तथा आत्मा का वह पतन है जो हममें उस समय उत्पन्न होता है जब हम आदर्शों को ठुकराये जाते देखते हैं, जब हम उन बड़ी-बड़ी बातों को जिनकी हम चर्चा किया करते थे, शून्य शब्दों का रूप लेते देखते हैं और जब हम जीवन को एक दूसरा मार्ग ग्रहण करते पाते हैं। फिर भी मैं विश्वास करता हूं कि यह समय शीघ्र ही बीत जायगा।

प्रभु का यह प्यारा जितना महान् अपने जीवन में था उससे महत्तर उसकी मृत्यु थी और मुझे इसमें रत्ती भर भी संदेह नहीं कि जिस महान् हित की वह अपने जीवन में सेवा करता आया था, उसकी उसने अपनी मृत्यु से भी सेवा की है। आज हम उस महापुरुष के लिए शोक मनाते हैं; हम उसके लिए सदा शोक मनायेंगे, क्योंकि हम मनुष्य हैं और अपने सम्माननीय गुरु को नहीं भूल सकते; किंतु

हम जानते हैं कि वह यह नहीं चाहते कि हम उनके लिए शोक मनायें। अपने निकट-से-निकट और प्रिय-से-प्रिय व्यक्ति के भी इस संसार से चले जाने पर उन्होंने आंखों से आंसू नहीं बहाये। उनके सामने बस एक दृढ़ संकल्प था—काम करते रहना और जिस हित को उन्होंने चुना था उसकी सेवा में संलग्न रहना। इसलिए यदि हम केवल शोक मनायेंगे तो वह हमसे खुश नहीं होंगे। उन्हे श्रद्धांजलि अर्पित करने का यह एक बहुत ही घटिया तरीका है। उसका एकमात्र तरीका यह है कि हम अपनी दृढ़प्रतिज्ञा की घोषणा करें, नये सिरे से संकल्प लें,इसी तरह से व्यवहार करते रहे और जिस महान् कार्य को उन्होंने अपने कंधों पर लिया था और जिसे उन्होंने बड़ी मात्रा में पूरा कर लिया था उसकी सेवा में अपना जीवन समर्पित कर दें। हमें काम करना है, हमें मेहनत करनी है, हमें त्याग करना है और कम-से-कम कुछ सीमा तक अपने को उनका योग्य अनुयायी सिद्ध करना है।....

यह घटना, यह दुःखद घटना, किसी एक पागल का काम नहीं है। हिंसा और घृणा के उस वातावरण का फल है जो पिछले कितने ही वर्षों से, और विशेष रूप से पिछले कुछ महीनों से, देश में फैला हुआ है। वह वातावरण आज हमें घेरे हुए है और यदि हमें उस हित की सेवा करनी है जो उन्होने हमारे सामने रखा था तो हमें इस वातावरण का सामना करना है, इसे रोकना है, इससे युद्ध करना है और घृणा तथा हिंसा के दुर्गुण को निर्मूल करना है। जहां तक इस सरकार का सवाल है, मैं समझता हूं कि वह इसे दूर करने के लिए कोई भी कसर नहीं उठा रखेगी, क्योंकि यदि हम ऐसा नहीं करेंगे, यदि हम अपनी कमजोरी के कारण या किसी दूसरे ऐसे कारण से जिसे हम पर्याप्त समझते है, इस हिंसा को रोकने और वचन, लेख या कर्म द्वारा प्रसारित की जाने वाली घृणा की वृद्धि को नहीं रोकेंगे तो इसका मतलब यह है कि हम इस सरकार में रहने के योग्य नहीं हैं, हम उनके अनुयायी बनने के योग्य नहीं है और जो महान् आत्मा चली गई है उसकी प्रशंसा में दो शब्द कहने के योग्य नहीं है। इसलिए इस अवसर पर

या जब कभी हमें यह याद आये कि हमारा वह महान् गुरु नहीं रहा तब हमें कर्म, मेहनत और त्याग के आधार पर उनका स्मरण करना चाहिए हमें यह सोचकर उसका स्मरण करना चाहिए कि जहां कहीं भी बुराई दिखाई देगी वहीं हम उससे संघर्ष करेंगे, सत्य का उसी रूप में अनुगमन करेंगे जिस रूप मे उन्होंने उसे हमारे सामने रखा था। यदि हम ऐसा करेंगे तो हम चाहे कितने ही अयोग्य क्यों न हों, कम-से-कम अपने कर्तव्य का पालन कर चुके होंगे और उनकी आत्मा को उचित श्रद्धांजलि अर्पित कर चुके होंगे ।

वह चले गये हैं और आज सारे भारत में ऐसा लग रहा है जैसे हम अकेले और अनाथ रह गये हैं। यह भावना हम सब में है और मैं कह नहीं सकता कि हम उससे कब तक मुक्त हो पायेंगे। इसके अलावा हम परमात्मा के कृतज्ञ भी हैं कि इस महान् व्यक्ति के संपर्क में रहने का सौभाग्य वर्तमान पीढ़ी के हम लोगों को ही मिला है। आगे के युगों में—हो सकता है कि सदियो और हजारों वर्ष बाद—लोग इस पीढ़ी की बातें सोचा करेंगे कि प्रभु का यह प्यारा पृथ्वी पर अवतरित हुआ था। वे हमारी भी याद किया करेंगे—हम जो छोटे होते हुए भी उनके मार्ग का अनुगमन कर सके और जिस पवित्र भूमि पर उनके पग पड़े उस पर शायद हम भी चले। हमें उनके योग्य होना चाहिए, सदा उनके योग्य होना चाहिए।[1]

बापू

सन् १९१६ की बात है—आज से ३२ साल से भी पहले की, जब कि मैंने बापू को पहली बार देखा था। तब से अब तक एक युग बीत गया। स्वभावतः हम अतीत की ओर देखते हैं और स्मृतियां एक के बाद एक चली आती हैं। भारत के इतिहास में यह भी एक कैसा आश्चर्यजनक काल रहा है। इस युग की कहानी

[1] विधान परिषद् मे २ फरवरी १९४८ को दिया गया भाषण।

अपनी जय और पराजय के साथ एक कविता और रोमांचकारी कथा-सी लगती है। हमारे नगण्य जीवन में भी उस रोमांच का स्पर्श हुआ है, क्योंकि हम इस काल में रहे हैं और छोटे या बड़े रूप में भारत के महान् नाटक के अभिनेता हैं।

इस काल मे सारे संसार में लड़ाइयां, उपद्रव और रोमांचकारी घटनाएं हुईं। फिर भी भारत की घटनाए इन सबसे विशेष और भिन्न हैं, क्योंकि उनका आधार ही बिलकुल अलग है। यदि कोई व्यक्ति बापू के संबंध में अधिक जाने बिना ही इस काल का अध्ययन करे तो वह ताज्जुब करेगा कि भारत में यह सब कैसे और क्यो हुआ? इसकी व्याख्या करना कठिन है, तर्क के आधार पर यह समझना भी मुश्किल है कि हममे से प्रत्येक आदमी ने ऐसा क्यो किया। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक व्यक्ति और एक पूरा-का-पूरा राष्ट्र तक किसी भावना या अनुभूति के बहाव में पड़कर एक विशेष ढंग के कार्य के पास जा पहुंचता है—कभी-कभी वह कार्य श्रेष्ठ किंतु अधिकतर निम्नकोटि का होता है। पर धीरे-धीरे वह भावना और वह अनुभूति समाप्त हो जाती है और वह व्यक्ति जल्दी ही कर्मण्यता और अकर्मण्यता के अपने पुराने स्तर पर आ जाता है।

इस काल मे भारत की आश्चर्यजनक घटना केवल यही नही थी कि सामूहिक रूप से देश का कार्य एक उच्च स्तर पर होता रहा, बल्कि यह भी कि वह कार्य उस स्तर पर प्राय लगातार बहुत लंबे समय तक चलता रहा। निस्सदेह यह एक बहुत बडी सफलता थी। जब तक हम उस आश्चर्यजनक व्यक्ति की ओर नहीं देखेंगे जिसने इस युग को सांचे में ढाला, तबतक हम न तो इसे साफ-साफ समझ सकेंगे और न इसकी व्याख्या ही कर सकेंगे। एक महान् मूर्त्ति की तरह वह भारतीय इतिहास से पचास वर्ष आगे खड़े हैं—शरीर से ही महान् नहीं, बल्कि मस्तिष्क और आत्मा से भी महान्।

हम बापू के लिए शोक करते हैं और ऐसा महसूस करते हैं जैसे हम अनाथ हो गये हों। यदि हम उनके भव्य जीवन पर दृष्टिपात करें तो हमें उसमें शोक करने

की बात ही क्या दिखाई देगी ? इतिहास में निस्संदेह ऐसे बहुत ही कम लोग मिलेंगे जिन्हें अपने जीवन में इतनी सफलता का सौभाग्य मिला हो। उन्हें हमारी असफलता पर ग्लानि होती थी और वह इस बात से दुःखी थे कि भारत को अधिक ऊंचा नहीं उठा सके। वह ग्लानि और वह दुःख बड़ी ही आसानी से समझ में आ जाते हैं। फिर भी किसे यह कहने का साहस है कि उनका जीवन असफल था ? जिस वस्तु को भी उन्होंने स्पर्श किया उसे ग्रहण करने योग्य और बहुमूल्य बना दिया। उन्होंने जो कुछ भी किया उसका ठोस परिणाम निकला, यद्यपि उतना बड़ा परिणाम नहीं जितना कि वह आशा करते थे। उन्हे देखकर यह भावना होती थी कि ऐसा कोई कार्य नहीं जिसके लिए वह प्रयत्न करें और सफल न हों। गीता के उपदेश के अनुसार उन्होंने फल की चिंता किये बिना ही निर्लिप्त भाव से कार्य किया और इसी लिए उनके कार्य फलीभूत हुए।

उनके लंबे जीवन में, जो कि कठोर श्रम और क्रियाशीलता तथा साधारण क्षेत्र में ही की गई नूतन साहसिकताओ से परिपूर्ण था, एक भी बेसुरी तान नहीं। उनकी सारी बहिर्मुखी क्रियाएं धीरे-धीरे एक निश्चित स्वर का रूप धारण करती गई और उनका एक-एक शब्द, एक-एक इशारा उससे मेल खाता गया और इस प्रकार अनजाने ही वह एक निर्मल कलाकार बन गये। उन्होंने जीने की कला सीख ली थी, यद्यपि जिस तरह का जीवन उन्होंने अपनाया था वह संसार के साधारण जीवन से बहुत भिन्न था। यह बात स्पष्ट हो गई कि सत्य और अच्छाई का अनुशीलन करने से और बातो के साथ-साथ जीवन-यापन की यह कला भी मिल जाती है।

जैसे-जैसे वह बूढ़े होते गये वैसे-वैसे उनका शरीर उनके भीतर की महान् आत्मा का एक वाहक मात्र बनता गया। उन्हे सुनते या उन्हे देखते समय लोग उनके शरीर को एक प्रकार से भूल जाते थे। इसलिए वह जहा बैठते थे वह मंदिर बन जाता था और वह जहा चलते थे वह भूमि पवित्र हो जाती थी।

उनकी मृत्यु तक में एक भव्य और पूर्ण कला थी। वह हर तरह की एक उपयुक्त पराकाष्ठा थी। सच पूछिये तो उससे उनके जीवन की शिक्षा और भी श्रेष्ठ बन गई। उनकी मृत्यु उस समय हुई जब कि उनकी शक्तियां अपनी पूर्ण अवस्था में थीं और जब वह प्रार्थना के लिए जा रहे थे—निस्संदेह इसी समय वह स्वयं मरना पसंद करते थे। वह उस एकता के लिए शहीद बन गए जिसके लिए उन्होंने अपना जीवन अर्पित कर दिया था और जिसके लिए वह निरन्तर श्रम करते आए थे—विशेषतः पिछले एक साल या उससे कुछ पहले से। उनकी मृत्यु एकाएक हुई जैसे कि सभी लोग मरना चाहते हैं। उनके शरीर का कोई ह्रास नहीं हुआ था, उन्हें कोई लंबी बीमारी नहीं भोगनी पड़ी थी और न उनके मस्तिष्क की चेतना ही मिटी थी जैसा कि अक्सर आयु के साथ हो जाता है। इसलिए हम उनके लिए क्यों शोक मनावें? हम उन्हे एक ऐसे गुरु के रूप में याद करेंगे जिसका कदम अंत तक कोमल था, जिसकी मुस्कराहट दूसरो में भी मुस्कराहट जगा देती थी और जिसकी आंखें सदा हंसती ही रहती थीं। हम यह कभी नहीं कह सकेंगे कि उनके शरीर या मस्तिष्क ने काम करना बन्द कर दिया। वह अपनी शक्ति और अपने अधिकारों की पराकाष्ठा पर पहुंचकर जिये और मरे और हमारे तथा युग के सामने एक ऐसा चित्र छोड़ गये जो कभी मिट नहीं सकता।

वह चित्र कभी धुंधला नहीं पड़ेगा। किंतु उन्होंने इससे भी अधिक किया। वह हमारे मस्तिष्क और हमारी आत्मा के तत्त्व में ही प्रवेश कर गये और उसे बदलकर नये सांचे में ढाल दिया। गांधी-युग तो बीत जायेगा; किंतु वह तत्त्व अक्षुण्ण रहेगा और बाद की प्रत्येक पीढ़ी पर असर करता रहेगा; क्योंकि वह भारत की आत्मा का एक अंग बन गया है। ठीक ऐसे समय में जब इस देश में हममें आत्मिक दुर्बलता आती जा रही थी बापू हमें बलवान बनाने आये और उन्होंने हमें जो शक्ति दी वह एक क्षण या एक दिन या एक वर्ष के लिए नहीं थी, बल्कि वह एक ऐसी वस्तु थी जो हमारे राष्ट्र की परम्परागत संपत्ति में जुड़ गई।

बापू ने भारत ही नहीं बल्कि सारे संसार और हम गरीबों के लिए भी एक देव के समान—और वह भी बड़ी सुचारुता के साथ—कार्य किया है—अब हमारी बारी है कि हम उनके साथ और उनकी स्मृति के साथ धोखा न करें, उनके कार्य को अपनी पूरी योग्यता के साथ जारी रखें और जो प्रतिज्ञाएं हमने बारबार की हैं उन्हें पूरा करें।[1]

'महात्मा गांधी की जय'

[१२ फरवरी १९४८ को प्रयाग में त्रिवेणी-संगम पर पूज्य बापू के अस्थि-विसर्जन के बाद दिया गया भाषण। यह भाषण आल इंडिया रेडियो के सौजन्य से मूल हिन्दी में ही प्राप्त हुआ है।]

आखिरी सफर खतम हुआ, अंतिम यात्रा समाप्त हो गई। ५० वर्ष से ऊपर हुआ, महात्मा गांधी ने हमारे इस देश में बहुत चक्कर लगाये। हिमालय से, सीमा-प्रांत से, ब्रह्मपुत्र से लेकर कन्याकुमारी तक सारे प्रांतों में, सारे देश के हिस्सों में घूमे। खाली तमाशा देखने के लिए नहीं जाते थे, बल्कि जनता की सेवा करने के लिए, जनता को पहचानने के लिए। और शायद कोई भी हिंदुस्तानी नहीं होगा जिसने इतना, इस भारत देश में, भ्रमण किया हो, इतना यहां की जनता को पहिचाना हो, और जनता की इतनी सेवा की हो। तो उनकी इस दुनिया की यात्रा खतम हुई। हमारी और आपकी यात्राएं अभी जारी हैं।

कुछ लोग शोक करते हैं। और शोक करना कुछ मुनासिब भी है, उचित भी है। लेकिन शोक किस बात का? गांधीजी के गुजरने का—महात्मा जी के लिए या किसी और के लिए? महात्माजी का जीवन और महात्माजी की मृत्यु ऐसी हुई है, दोनों कि, हमेशा के लिए हमारा देश उनकी वजह से चमकता रहेगा।

[1] हरिजन, २ फरवरी १९४८।

शोक किस बात का ! हां, शोक है; शोक अपने पर, महात्माजी के ऊपर नहीं। अपने ऊपर, अपनी दुर्बलता पर, हमारे दिल में जो द्वेष है, जो अदावतें, यह जो हम आपस में लडाइयां लडते हैं उन पर। याद रखो, महात्माजी ने किस बात पर अपनी जान दी ? याद रखिये क्या बात पिछले चन्द महीनो से उन्होने विशेषकर पकड़ी थी? अब हम जो उनका आदर करते हैं तो फिर आदर खाली नाम का तो नहीं, उनकी बातो का, उनके उपदेश का और विशेषकर इस बात का जिसके लिए उन्होने अपना जीवन अर्पण कर दिया। और फिर हम और आप यहां इस त्रिवेणी से, गगा तट से, घर जाकर जरा अपने-अपने दिलो से पूछें कि हमने अपना कर्त्तव्य कितना किया। हमें जो महात्माजी ने रास्ता बतलाया था उसमें कहा तक हम चले, कहां तक हमने आपस में मेल रखने की कोशिश की, कहा तक लडाई की। अगर इन बातो पर हम विचार करे और फिर सही रास्ते पर चलें तभी हमारे लिए भला है और हमारे देश के लिए भला है। एक महापुरुष हमारे देश मे आये, दुनिया भर को उन्होने चमकाया, हमारे देश को चमकाया और फिर हमारे देश के और हमारे एक भाई के हाथ से उनकी हत्या हुई। क्या बात है ? आप सोचें, एक आदमी पागल होता है या न हो; लेकिन क्या बात है कि इस आदमी ने हत्या की। इसलिए कि इस देश मे इतना विष फैलाया गया है, ऐसा जहर फैलाया गया है, एक-दूसरेके दिलो में, एक-दूसरे के विरुद्ध, खिलाफ, दुश्मनी, लडाई-झगडे का। उस विष मे से यह सब जहरीले पौधे निकल रहे हैं। अब आपका हमारा काम है कि उस जहर को हम खत्म करें। हमने अगर महात्मा जी से कुछ सबक सीखा है तो किसी एक व्यक्ति से, एक शख्स से, दुश्मनी का सवाल नहीं है। हम किसी से दुश्मनी नहीं करेंगे; लेकिन जो बुरा काम है, जो जहरीली बात है, उससे दुश्मनी करेंगे, उसका मुकाबला करेंगे और उसको हरायेंगे। यह सबक हमने सीखा महात्माजी से। हम तो कमजोर लोग है, फिर भी उनके साथ रहकर कुछ बड़प्पन हममें भी आ गया। उनकी साया में हम भी कुछ लोगों

को लम्बे-चौड़े मालूम होने लगें। लेकिन असल में तेज उनका था, प्रताप उनका था, शक्ति उनकी थी और रास्ता उनका था। कुछ लड़खड़ाते, ठोकर खाते हम भी उस रास्ते पर चले इसलिए कि हम भी कुछ सेवा कर सकें। देश का अब वह सहारा गया; लेकिन कैसे मैं कहता हूं कि वह सहारा गया? क्योंकि जो यहां आज लाखों आदमी मौजूद हैं उनके अन्दर से और देश के करोड़ों आदमियों के दिलों में से क्या गांधीजी की तस्वीर हटेगी? आज नहीं, क्योंकि आज जिन करोड़ों लोगों ने उनको देखा है वे याद रखेंगे। आगे और नस्लें आयेंगी, पौधे आवेंगे, जिन्होंने अपनी आंखों से उन्हें नहीं देखा; लेकिन फिर भी उनके दिल में वह तस्वीर जमी रहेगी; क्योंकि देश के इतिहास में वह जम गई है। आज गांधी-युग एक तरह से कहा जाता है खत्म हुआ, जो ३०-४० वर्ष हुए भारत में शुरू हुआ था। लेकिन खत्म कैसे हुआ, समाप्त कैसे हुआ? वह तो एक तरह से, दूसरे ढंग से अब शुरू हुआ है। अब तक उनकी साया में हम उनका सहारा लेते थे, बहुत उनसे मदद मिलती थी। अब हमें और आपको अपनी टांगो पर चलना है। हां, उनके उपदेश का सहारा लेना है, उनकी याद का सहारा लेना है, उनसे थोड़ा-बहुत जो सीखा है उसको सामने रखकर सहारा लेना है। और सहारा तो उनका काफी है; लेकिन अब अपनी टांगों पर चलना है और विशेषकर जो उनका आखीरी उपदेश है, संदेश है, उसको याद रखना है और वह यह कि हमें डरना नही चाहिए। हमेशा वह सिखाते थे कि अपने दिल में से डर निकालना, अपने दिल में से द्वेष निकालना, लड़ाई-झगड़ा एक दूसरे से बन्द करना, अपने देश को आजाद करना। और उन्होंने हमारे देश को आजाद कराया, स्वराज्य लिया। स्वराज्य लिया और उन्होंने ऐसे तरीके से लिया कि सारी दुनिया में आश्चर्य हुआ। वह हमें मिला तो, लेकिन मिलते वक्त पर हम उनका सबक भूल गये, बहक गये और लड़ाई-झगड़ा किया और देश का नाम बदनाम किया। आजकल कितने नौजवान हमारे यहां हैं जो बहके हुए रास्ते से न जाने क्या-क्या नारे उठाते हैं, गलत बातें कहते हैं। तो वे नौजवान तो हमारे हैं, इस देश के,

उन्हें हमें बताना है। लेकिन मैं आपसे कहना चाहता हूं कि यह जो जहर द्वेष का फैला हुआ है, लोगों के दिलों में, जो कहता है कि हिंदू को मुसलमान से लड़ना, मुसलमान को हिंदू से लड़ना, या सिख को और किसी से, जो हममें धार्मिक झगड़े पैदा कराता है या धर्म के नाम पर राजनैतिक झगड़ा पैदा करता है, जो कुछ हो वह चीज बुरी है, वह जहर बुरा है। उसने हमारे देश को नीचा दिखाया है और हमारे देश को और आगे देश की आजादी को तबाह करेगा, अगर हम होशियार नहीं होते। इसलिए हिंदुस्तान को होशियार करने के लिए महात्माजी ने अभी कितने दिन हुए, दो-तीन सप्ताह ही तो हुए, उपवास किया कि जनता जागे, जिधर देश जा रहा है, उधर रुके। कुछ जनता जागी, कुछ हम लोगों ने और जनता के प्रतिनिधियों ने आकर उनसे इकरार किया, प्रतीज्ञा की कि हां, हम इस गलत रास्ते पर नहीं चलेंगे। उन्होंने अपना व्रत, उपवास खत्म किया। किसको मालूम था उस समय कि थोड़े ही दिन में यह एक ज्यादा लंबा सिलसिला शुरू होगा उपवास का, मौन का। एक दिन वह मौन रखते थे सप्ताह में, पर आज हमेशा के लिए हमारे और आपके लिए वह मौन हो गये। तो आखिरी सबक उनका यह था इस लड़ाई-झगड़े को रोकना। और बहुत कुछ लोग उस सबक को समझे, आप और हम भी सब समझे और देश भी समझा; क्योंकि आप यह याद रखिये कि अगर ऐसा लड़ाई-झगड़ा जारी हुआ और अगर ये बातें हमारे देश में हुईं, जिनका एक नमूना और बहुत ही खतरनाक नमूना महात्माजी की मौत है, यानी क्या कि हमारे देश में लोग हाथ उठायें, दूसरे की हत्या करें; दूसरे की, और कैसे की, ऐसे महा-पुरुष की, इसलिए कि उसकी राय से वह नहीं सहमत था, इसलिए कि वह राजनीति में उसको सही नहीं समझता था, तो यह बड़ा खतरनाक रास्ता है, अगर हमारा देश इसमें पड़ा, एक दूसरे को मारने के लिए। इसलिए क्योंकि हम कहते हैं कि हमारे देश में जनता का राज्य हो, स्वराज्य हो, उसके माने क्या हैं? हम एक-दूसरे को समझें, सारी जनता अपना प्रतिनिधि चुनें और जो बात वे निश्चय करें

यह बात की जाय। अगर इस तरह हम एक-दूसरे को समझकर नहीं करते और हरं एक आदमी एक दूसरे से लड़ता है तो देश क्या? वह देश तो तबाह हो जाता है। यहां बहुत सारे सिपाही बैठे हैं, हमारे देश के फौज के सिपाही, हिंदुस्तानी फौज के सिपाहियों को अपने देश की आजादी और देश के लिए फक्र करना उनका कर्त्तव्य है। देश की सेवा करें, देश की रक्षा करें। अगर वह सिपाही एक-दूसरे से लड़ा करें तो फौज की फौज खत्म हो जायगी। फिर फौज की शक्ति तो नहीं रही, ताकत तो नहीं रही। इस तरह से देश की ताकत और देश की शक्ति एक दूसरे से लड़ने से गिरती है। जो बातें हों उनको मिलकर फैसला करना, एक-दूसरे को समझाकर, यही ठीक स्वराज्य होता है, ठीक जनता का राज्य होता है। तो इस राय में जो लोग नहीं चलना चाहते वह दूसरे रास्ते पर चलते हैं, किंतु जब वह हमें और आपको नहीं समझा सकते तो वह फिर तलवार और बन्दूक लेकर लोगों को मारना शुरू कर देते हैं, अपने भाइयों को, क्योंकि जनता उनके विरुद्ध है। अगर जनता उनके विरुद्ध न हो तो वह फिर जनता के बल पर हुकूमत की कुर्सी पर बैठ सकते हैं। लेकिन जब वह जानते हैं कि जनता इसके विरोध में है और जनता को इस तरफ नहीं ला सकते तब ऐसी बातें करते हैं, झगड़ा-फसाद करके ताकि उसमें उलट-फेर हो तो उससे वे कोई फायदा उठायें। लेकिन यह तो ऐसे बचपने की बात है कि कोई लोग इस तरीके से मारपीट करके यहां की हुकूमत को बदल सकते हैं या यहां भारत में उलटफेर कर सकते हैं। यह तो कोई आदमी जो बिलकुल समझता नहीं है वह ऐसी बात कह सकता है। फिर भी ऐसी बात हुई तो क्यों हुई? इसलिए कि काफी लोग हमारे देश में और ऐसे लोग जो ऊंची पदवियों पर हैं, नीचे हैं और हर जगह हैं उन्होंने इस फिजा को, जहरीले विष की फिजा को, देश में बढ़ाया। अब हमारा और आपका काम है कि इस जहर को पकड़ें और इस जहर को खत्म करें, नहीं तो याद रखिए यह देश इस जहर में डूब जायगा। मुझे विश्वास है कि हम इसका विरोध पूरी तरह करेंगे और अगर

हमारे हाथ, पैर जरा कमजोर थे, दिल कमजोर था तो यह देखकर कि महात्माजी की मृत्यु हुई है, आपमें और मुझमें से कितने ऐसे आदमी हैं जो इस बात की प्रतिज्ञा नहीं करते कि हम इस बात को नही होने देंगे, झगडे-फसाद को, जिसके लिए महात्माजी मरे और जिससे हमारे देश का, दुनिया का महापुरुष मरा। इस बात को जहां तक हममें ताकत है पूरा करेंगे।

तो आप हम सब यहां इस गगा के तट से वापस जायेंगे। और दिल उदास है, अकेलापन है, विचार आता है कि अब कभी हम गांधीजी को नहीं देखेंगे। दौड़-दौड़ कर हम उनके पास आते थे जब कोई दिल में परेशानी हो, जब कोई बडा प्रश्न हो और समझ में न आये कि क्या करें, उनसे सलाह लेते थे। अब कोई सलाह देने वाला नही है। न कोई हमारे बोझो को उठानेवाला है। मेरे नहीं, आपके और हम सबो के। हमारे देश में जाने कितने हजार या लाख पुरुष उनको अपना मित्र समझते थे, उनके पास दौड़-दौडकर जाते थे। सभी उनके एक बच्चे से हो गये थे। इसलिए उनका नाम हो गया 'राष्ट्रपिता'। और वह तो हमारे देश के पिता हैं और देश के घर-घर मे, लाखो करोडो घरों मे, आज उतना ही शोक है जितना कि पिता के जाने से होता है। तो हम यहा से जायेंगे उदास होकर, अकेले होकर। लेकिन उसके साथ हम यहा से जायेंगे एक गरूर लेकर—इस बात का कि हमारे देश में, हमारा नेता ऐसा एक महापुरुष था कि उसने सपूर्ण देश को कितनी दूर तक पहुचाकर सच्चाई के रास्ते पर लगाया और हमें जो लडाई का तरीका बताया वह भी हमेशा सच्चाई का था। याद रखिये यह जो रास्ता उन्होंने हमें सिखाया वह लडाई का था, वह चुपचाप हिमालय की चोटी पर बैठनेवाले महात्मा का नहीं था। वह हमेशा अच्छे कामो के लिए लडाई करने वाले थे; लेकिन लडाई उनकी सच्चाई, सत्य, अहिसा और शांति की थी, जिसमे उन्होंने ४० करोड आदमियो को आजाद कराया। तो हमें शांत नही रहना है, इस तरह से कि चुपचाप हम जाकर छिप जाय। हमें अपना कर्त्तव्य पूरा करना है और जो कुछ हमारा एक फर्ज है उसको अदा करना

है। और फर्ज हमारा यह है कि जो हमने उनसे प्रतिज्ञा की है, जो हमारे देश में यह विष फैला है, खराबियां पैदा हुई हैं उनको हटाकर हम सच्चाई के रास्ते पर, धर्म के रास्ते पर चलें। हम इस देश को ऐसा बनायें, स्वतन्त्र और आजाद हिंदुस्तान, जिसमें हर एक आदमी, हर एक धर्म का सुखी से रहे, मिलकर रहे और एक दूसरे की सहायता करे और दुनिया को भी हम रास्ता सिखायें। यह प्रतिज्ञा करके हम यहां से जायं तो हमारे लिए भला है। हमने एक बड़ा सबक तो सीखा और अगर हम इस बात को नहीं कर सकते, दुर्बलता में पड़ते हैं तो फिर यह कहा जायगा कि एक महापुरुष आया, लेकिन जनता उसके योग्य नहीं थी, बहकती थी, छोटी थी और उसके बड़े पन को भी नहीं समझती थी।

'महात्माजी की जय' आपने और हमने इस तीस-चालीस वर्ष में कितनी बार पुकारी। सारे देश में वह आवाज गूंजी। वह आवाज सुनकर महात्माजी का दिल दुखता था। क्योंकि वह अपनी जय क्या चाहें। वह तो विजयी पुरुष थे। उनकी जय आप क्या करेंगे? जय हमारी और आपकी होने वाली है और इस देश, बदकिस्मत देश की, जो जय कहकर ऐसी बात करते हैं जिससे देश कीचड़ में गिर जाता है! उनकी जय तो है, हमेशा के लिए, हजार दस हजार वर्ष तक उनका नाम लिया जायेगा एक विजयी पुरुष की हैसियत से। जय हमारी और आपकी वह चाहते थे। इसलिए देश की, जनता की और विशेषकर देश की गरीब जनता की। किसान बिचारे, हमारे हरिजन भाई, जो कोई दरिद्र हों, जो कोई गरीब हो, जो गिरे हुए हो, उनको वह सेवा करते थे, वह उनको जाकर उठाते थे। उनके ढंग से उन्होंने अपना रहन-सहन बनाया और कोशिश की कि देश में कोई नीचा न हो। दरिद्रनारायण की वह चर्चा करते थे। इस तरीके से उन्होंने आपकी और हमारी जय चाही थी। देश की जय चाही थी, लेकिन हमारी और आपकी, देश की जय और कोई तो नहीं कर सकता। वह तो हम अपने बाहुबल से कर सकते थे। तो उन्होंने हमें मन्त्र पढ़ाया, सिखाया कि

क्या हम करें और क्या न करें। कैसी जय वह चाहते थे, खाली ऊपरी जय नहीं, जैसी कि और देशों में होती है कि जरा गुलशोर मचाकर, हुल्लड़, बेइमानी करके, या कुछ तलवार बन्दूक भी चलाकर हमारी जीत जरा-सी हो जाय। वह जीत बहुत दिनों तक चलती नहीं और जिसे और देश भी हल्के-हल्के सीख रहे थे कि विजय एक देश की ऐसी बड़ी बुनियाद पर, सच्चाई पर अटल है, जिसके ऊपर हम आज बड़ी इमारत बनायें, तो वह कभी गिर नहीं सकती; क्योंकि बुनियाद मजबूत है। आजकल की दुनिया में क्रांति होती है, इन्कलाब, उलट-पलट, कभी देश नीचे है, कभी ऊंचे, फरेब है, झूठ है, दगाबाजी है, यह आजकल की राजनीति है। उन्होंने हमें दूसरी राजनीति सिखाई, सच्चाई और अहिंसा की, एक दूसरे से प्रेम करने की। उन्होंने हमें यह बतलाया कि यह जो भारत देश है, इसमें बहुत सारे धर्म, मजहब हैं, बहुत दिनों से रहते हैं, वह सब भारत के हो गये हैं, विदेश के नहीं। वह सब हमारे हैं, वह सब हमारे भाई हैं, हमें मिलकर रहना है, किसी को अधिकार न हो कि वह दूसरे के अधिकार पर कब्जा करे, किसी को अधिकार न हो कि वह किसी दूसरे का हिस्सा ले। हमारी जनता का राज्य हो, उसमें सारे ३०-४० करोड़ हिंदुस्तानियों का बराबर का भाग हो। यह नहीं कि थोड़े से अमीर लोग उसके बड़े हिस्सेदार हो जायं और सारी हमारी जनता गरीब हो। यह स्वराज्य महात्माजी का नहीं था। आम जनता का स्वराज्य एक कठिन बात है। लेकिन हल्के-हल्के हम इस तरफ जा रहे हैं और उनका सबक सीखकर और उनकी शक्ति और तेज लेकर हम भी हल्के-हल्के बढ़ते हैं। लेकिन अब उनका यह आखीरी सबक देखकर समय आ गया है कि हम ज्यादा चुस्ती से आगे बढ़ें और समझें और उसकी खराबियों को खत्म करें और फिर आगे बढ़े। तब असल में हम और आप बहुत जोरों से सच्चाई से कह सकेंगे कि

'महात्मा गांधी की जय।'

उनका योग्य स्मारक

[आल इंडिया रेडियो से १४ फरवरी १९४८ को दिया गया भाषण]

मित्रो और साथियो !

दो सप्ताह हो गये जब हिन्दुस्तान और संसार को एक ऐसी दारुण घटना सुनाई दी जिससे हिन्दुस्तान अनेक युगों तक लज्जित रहेगा। इन दो हफ्तों में क्लेश रहा, हृदय की छान-बीन हुई, प्रबल और दबी हुई भावनाएं प्रवाहित हुईं। करोड़ों आंखों से आंसू गिरे। क्या अच्छा होता अगर इन आंसुओं से हमारी तुच्छता और कमजोरी धुल जाती, और हम उस महापुरुष के किसी कदर योग्य बन जाते, जिसके लिए हम अफसोस कर रहे हैं। इन दो सप्ताह में, संसार के कोने-कोने से बादशाहों, बड़े-बड़े राजाओं और अधिकांश व्यक्तियों से लेकर, साधारण आदमियों तक ने, जिन्होंने उस महापुरुष को अपना साथी, मित्र और नेता समझा था, अभिवादन और नम्र वन्दना अर्पित की।

भावनाओं का यह जल-प्रवाह धीरे-धीरे मन्द हो जायगा, जैसे सब भावनायें ठंडी पड़ जाती हैं। यद्यपि हम उस प्रकार के नहीं हो सकते जैसे पहले थे, फिर भी वह हम लोगों के मन और प्राणों में समा गया है।

लोग कहते हैं कि उसकी स्मृति में संगमरमर या धातु की मूर्तियां बनाई जायं या स्तम्भ खड़े किये जायं। इस प्रकार वे उस महानपुरुष का तिरस्कार करते हैं और उसके संदेश को झुठलाते हैं। हम उनका किस प्रकार आदर या अभिवादन करें, जिसे वह पसन्द करते। उन्होंने हमें जिंदा रहने का रास्ता बताया और मरने का भी। अगर हमने यह सबक नहीं सीखा तो बेहतर है कि हम उनके लिये कोई स्मारक न बनायें; क्योंकि उनका उचित स्मारक यही है कि हम आदरपूर्वक उनके बताये हुए रास्ते पर चलें और जीवन और मरण में अपने कर्त्तव्य का पालन करें।

वह हिन्दू थे और भारतीय थे। इतने महान कि उनसे बड़ा कई पुश्तों से इस देश में पैदा नहीं हुआ। उन्हें हिन्दू होने और भारतीय होने का अभिमान

था, उन्हे हिन्दुस्तान प्यारा था; क्योंकि हिन्दुस्तान युगयुगान्तर से कुछ अटल सत्यों का प्रतिनिधि रहा है। यद्यपि वह बहुत बडे धार्मिक व्यक्ति थे और राष्ट्रपिता कहलाये—जिस राष्ट्र को उन्होने बन्धनो से छुड़ाया—लेकिन किसी सकीर्ण धार्मिक या राष्ट्रीय बन्धन से उनकी आत्मा बंधी नहीं थी। इस प्रकार वह महान् अन्तर्राष्ट्रीय-वादी हो गये, जो मनुष्यमात्र की मौलिक एकता में विश्वास रखते और सब धर्मों के मूल में एकता देखते। वह मनुष्य की आवश्यकताओं को समझते थे और दीन-दुखी और करोड़ो पद-दलित लोगो की सेवा में अपने को लगाते थे।

इतिहास मे कोई दूसरा मनुष्य ऐसा नही हुआ जिसके मरने पर इतने अभिवादन आये हों जितने इनके। उनके लिए तो वह शोक-सन्देश सबसे प्रिय होता जो पाकिस्तान के लोगों ने स्वत. भेजा है। इस दारुण दुर्घटना के दूसरे दिन हम सब लोग थोड़ी देर के लिए उस कटुता को भूल गये जो पैदा हो गई थी और पिछले कुछ महीनो का खिचाव और सघर्ष भी जाता रहा। और गांधीजी इस जीवित कौम के दो टुकड़े होने के पहले वाले भारत के प्रिय नेता के रूप में प्रदर्शित हो गये।

लोगों के दिल और दिमाग के ऊपर उनके इस प्रभाव का क्या कारण था? आने वाला युग इसका जवाब देगा। हम लोग उनके इतने निकट है कि उनके सम्पन्न और असाधारण व्यक्तित्व के अनेक पहलुओ को नहीं समझ सकते। लेकिन हम इतना समझते है कि सत्य उनका प्रधान आराध्यदेव था। इसी सत्य से प्रेरित होकर उन्होने निरन्तर इस बात की घोषणा की कि बुरे साधनो से अच्छा लक्ष्य नहीं प्राप्त हो सकता। अगर साधन बुरे है तो लक्ष्य बिगड जाता है। इसी सत्य से प्रेरित होकर उन्होने जब कभी समझा कि उनसे गलती हो गई तो अपनी गलती खुल्लमखुल्ला जनता के सामने स्वीकार कर लेते। वह अपनी कुछ गलतियों को हिमालय की तरह महान् कहते थे। इसी सत्य की प्रेरणा से प्रभावित होकर वह बुराई और असत्य से, जहा कहीं वे उनको मिलते, लड़ते। परिणाम की

वह कोई परवाह नहीं करते थे। इसी सत्य से दीन और दुखियों की सेवा उनके जीवन की प्रबल प्रेरणा बन गई थी; क्योंकि जहां असमानता है, भेद-भाव है, दूसरों को दबाने की व्यवस्था है वहीं अन्याय, पाप और असत्य है। इस तरह वह सामाजिक या राजनैतिक अत्याचारों से पीड़ित लोगों के प्रिय हो गये। वे आदर्श मनुष्यता के एक बड़े प्रतिनिधि बन गये। इसी सत्य के कारण जहां कहीं वह बैठते मन्दिर हो जाता और जिस जगह पदार्पण करते वह पवित्र स्थल बन जाता।

उनका स्थूल शरीर चला गया। अब हम उसे नहीं देख सकते और न उनकी नम्र वाणी सुन सकते हैं, न उनके पास सलाह-मशविरा के लिए ही दौड़कर जा सकते हैं। लेकिन उनकी अमिट स्मृति और अमर सन्देश हमारे पास अभी तक हैं। हम उनका आदर कैसे करें और उनके अनुसार अपना जीवन कैसे बनायें ?

वह भारत में एकता पैदा करने वाले महान् पुरुष थे, जिन्होंने हमें केवल दूसरों के प्रति सहिष्णुता ही नहीं सिखाई; बल्कि यह भी बताया कि हम दूसरों को अपना मित्र और साथी मानें, जो एक ही लक्ष्य के लिए काम कर रहे हों। उन्होंने हमें यह समझाया कि हम अपनी तुच्छ आत्मा और पक्षपात से ऊंचे उठें और दूसरों में भलाई देखने का प्रयत्न करें। उनके जीवन के पिछले चन्द महीनों में और उनकी मृत्यु में, हम उनके एकता के सन्देश का, सहिष्णुता का और विशाल हृदय की स्मृति का दर्शन कर सकते हैं। उनकी मृत्यु के कुछ दिन पहले हम लोगों ने उनके सामने इसी बात की प्रतिज्ञा ली थी। हमको इस प्रतिज्ञा का पालन करना चाहिये और याद रखना चाहिए कि भारत उन सबका है जो इसमें रहते हैं चाहे उनका मजहब कुछ भी क्यों न हो! हमारी महान् थाती में सब बराबर के हिस्सेदार हैं और इनके कर्त्तव्य और अधिकार भी बराबर हैं। हमारी क़ौम संयुक्त है, बड़ी क़ौमें अनिवार्य रूप से इसी प्रकार की होती हैं। अगर हमने अपनी दृष्टि संकुचित कर ली और इस महान् राष्ट्र के एक हद तक सीमित करने की कोशिश की तो हम उनकी अंतिम सीख के प्रति विश्वासघात करेंगे और निस्संदेह भयंकर गड्ढे में जाकर गिरेंगे और

उस आजादी को खो बैठेंगे, जिसके लिए उन्होंने परिश्रम किया था और बहुत हद तक प्राप्त कर लिया था।

भारत में साधारण जन की सेवा बहुत महत्व की चीज है। इसने विगत कालमें बहुत कष्ट सहा है। पहला स्थान साधारण जन का है और कोई भी चीज जो इसकी भलाई के रास्ते में खड़ी होती है दूसरा स्थान रखती है। केवल नैतिक या परोपकार की दृष्टि से ही नहीं; बल्कि राजनैतिक सूझबूझ के आधार पर भी यह अत्यंत आवश्यक हो गया है कि साधारण जन का स्तर बढ़ाया जाय और उसे उन्नति करने का पूरा अवसर दिया जाय। कोई सामाजिक व्यवस्था जिसमें साधारण जन को यह अवसर नहीं मिलता स्वतः निकृष्ट है और उसे बदल देना चाहिए।

गांधीजी तो गये; लेकिन उनकी दैदीप्यमान आत्मा हमको आच्छादित किये हुए है। बोझ अब हम पर है और हमारी तात्कालिक आवश्यकता यह है कि इस बोझ को हम अपनी पूरी ताकत और योग्यता लगाकर सम्हालने की कोशिश करें। हमें मिलकर रहना चाहिए और भीषण सांप्रदायिकता के उस विष का नाश कर देना चाहिए जिसने हमारे इस युग के सबसे महान् पुरुष को मार डाला। हमें इसको जड़ से खोदकर उखाड़ डालना चाहिए। बहके हुए व्यक्तियों के प्रति द्वेष की भावना से नहीं, बल्कि इस द्वेष के विरुद्ध प्रयत्न-शील होकर। गान्धीजी की हत्या से यह दोष समाप्त नहीं हुआ, इस हत्या पर कुछ लोगों का अनेक प्रकार से समारोह करना ौर भी लज्जा की बात थी। जिन्होंने ऐसा किया या जिनकी ऐसी भावना थी उन्हें भारतीय कहलाने का हक जाता रहा।

मैंने अभी कहा है कि हमें इस राष्ट्रीय संकट के अवसर पर संगठित रहना चाहिए और बहस-मुबाहसों से जहां तक संभव हो दूर रहना चाहिए। हमें उन मौलिक सिद्धांतों पर जोर देना चाहिए जिन पर हम सहमत हैं। मैं समाचार-पत्रों से विशेष रूप से अपील करता हूं कि वे इस आवश्यक काम में मदद दें और

व्यक्तिगत या दूसरे प्रकार के आक्षेपों से दूर रहें, जिससे देश में फूट पैदा होने वाली प्रेरणायें पैदा होती हैं। मैं विशेष रूप से अपने उन कांग्रेस के लाखों साथियों और सहयोगियों से भी अपील करूँगा जिन्होंने महात्मा गांधी के नेतृत्व का अनुकरण किया है—चाहे उनकी गति मन्द ही क्यों न रही हो।

मुझे अत्यन्त दुख हुआ कि समाचार-पत्रों में और कानाफूसी करके यह कहा जाता है कि मुझमें और सरदार पटेल में मतभेद हैं। इसमें शक नहीं कि अनेक समस्याओं के संबंध में हमारा और उनका बहुत दिनों से मत-भेद रहा है—मिजाज में और दूसरे तरह का भी। लेकिन हमारे देश-वासियों को यह समझना चाहिए कि सार्वजनिक जीवन के अनेक महत्वपूर्ण पहलुओं के संबंध में हम दोनों में मौलिक मतैक्य इतना है कि जिसके सामने यह मतभेद दब गया और हम दोनों ने बड़े-बड़े काम चौथाई शताब्दी तक मिलजुल कर किये हैं। सुख और दुख में हम बराबर के साथी रहे हैं। क्या यह मुमकिन है कि अपने राष्ट्रीय भविष्य के इस संकट के अवसर पर हम दोनों में से कोई भी इतनी तुच्छता दिखाये कि राष्ट्रीय हित के अलावा किसी दूसरी बात का विचार करे ? राष्ट्र के प्रति उनकी आजीवन सेवा के लिए और उन महान कार्यों के लिए जो उन्होंने इस दरमियान में जब से हम दोनों भारत सरकार में हैं—संपादित किये हैं। मैं सरदार पटेल को सम्मान और प्रशंसा की भेंट पेश करता हूँ। युद्ध और शान्ति दोनों में वह बहादुर सेनापति रहे हैं। जब दूसरे लड़खड़ाते थे तो उनका दिल मजबूत रहता था। वह बड़े संगठनकर्ता हैं इसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ कि इतने सालों से मेरा और उनका संपर्क रहा और ज्यों-ज्यों समय बीता मेरा उनके प्रति सराहनीय भाव बढ़ता गया।

अभी हाल ही में कुछ अखबारों में यह रिपोर्ट छपी है, जो कि बिलकुल अप्रमाणित है और जिससे लोगों को विश्वास होने लगा है, कि मैंने अपने पुराने मित्र और साथी जयप्रकाश नारायण के खिलाफ कड़े शब्द इस्तेमाल किये हैं। यह खबर गलत है मैं इतना कह देना चाहता हूँ कि मुझे इसका गहरा दुख है कि भारत

की सोशलिस्ट पार्टी मेरे विचार में, घटनाओ के दबाव से या आवेश में गलत काम या गलत बयान देने के लिए विवश हो गई है। लेकिन मुझे कभी जयप्रकाश नारायण की योग्यता और ईमानदारी में सन्देह नहीं रहा, जिनकी मैं मित्र की हैसियत से क़द्र करता हूँ और मुझे विश्वास है कि एक समय आवेगा जब कि भारत के भाग्य-निर्माण में वह महत्वपूर्ण काम करेंगे। बदकिस्मती से सोशलिस्ट पार्टी बहुत दिनो से निषेधात्मक नीति पर चल रही है और उन बड़े-बड़े सवालो की जिनको प्रथम स्थान देना चाहिए उपेक्षा करती रही है।

मैं सार्वजनिक जीवन में सहिष्णुता और सहयोग के लिए तथा उन तमाम शक्तियो के एकत्रित करने के लिए जो भारत को एक महान् उन्नतिशील राष्ट्र बनाना चाहती है प्रेरणा करता हूँ और सकीर्ण प्रांतीयता और सांप्रदायिकता के विष के खिलाफ सर्वव्यापी प्रयत्न की प्रेरणा करता हूँ। मैं चाहता हूँ कि व्यावसायिक सघर्ष बन्द हो और भारत के निर्माण मे सब लोग, जिनका इससे संबंध है, मिल-जुल कर कोशिश करें। मैं इन महान् कार्यों में दत्तचित्त रहने की प्रतिज्ञा करता हूँ और मुझे विश्वास है कि इस युग के लोगों को यह सौभाग्य प्राप्त हो जायगा कि गाधीजी के सपनो को साकार रूप दे सकें। इसमें उनकी स्मृति का आदर है और यही उनका योग्य स्मारक है।

गाधी ने हमे क्या सिखाया ?

[गान्धी जयन्ती २ अक्टूबर १९४८ के दिन आल इडिया रेडियो पर दिया गया राष्ट्र के नाम सदेश]

मित्रो और साथियो !

आज के दिन जो विशेष रूप से उनकी स्मृति के लिए समर्पित है, जिन्हे हम राष्ट्र-पिता कहते है, मैं आपसे क्या कहूँ ? मैं इस समय आपके सामने प्रधान मन्त्री की हैसियत से नहीं बल्कि जवाहरलाल की हैसियत से बोलूंगा, जो आपके समान ही

भारत की स्वतन्त्रता की लम्बी यात्रा का मुसाफिर रहा हूं और जिसको महान् सौभाग्य मिला था कि भारत की और सत्य की सेवा का सबक उस गुरु के चरणों में बैठकर सीखे। आजकल की समस्याओं के बारे में भी जो हमारे मस्तिष्क में छाई हुई हैं और हमारे ध्यान को बराबर आकर्षित करती रहती हैं मैं ज्यादा नहीं कहूंगा। पर मैं उन मौलिक वस्तुओं के संबंध में चर्चा करूंगा जिन्हें गांधीजी ने हमें सिखाया और जिनके बिना जीवन खोखला और निकम्मा बन जाता है।

उन्होंने हमें केवल व्यक्तिगत् जीवन में ही नहीं बल्कि सार्वजनिक जीवन और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में भी सत्य से प्रेम व सच्चा और खरा व्यवहार रखना बताया। उन्होंने हमें नम्रता का और श्रम का गौरव सिखाया। हमारे सामने इस पुराने सबक को फिर से रखा कि घृणा और उद्दंडता से सिवाय घृणा, उद्दण्डता और विनाश के कुछ और नहीं निकल सकता। इस प्रकार उन्होंने हमें निर्भयता, एकता, सहिष्णुता, और शान्ति का रास्ता सिखाया।

उनकी शिक्षा पर हम किस हद तक चल सकते हैं? बहुत दूर तक नहीं— फिर भी उनके नेतृत्व में हमने बहुत कुछ सीखा और शान्तिपूर्ण ढंग से अपने देश की स्वतन्त्रता प्राप्त की। लेकिन ठीक मुक्ति पाने के समय हम भूल गये और बहककर गलत रास्ते पर चल दिये, जिससे उस विशाल हृदय को, जो सतत् भारत के लिए और उन सच्चाइयों और सिद्धांतों के लिए जो प्राचीन काल से भारत के रहे हैं, धड़कता था, असह्य दुख पहुंचा।

आज क्या हाल है? जिस समय हम उनकी याद करते हैं, उन्हें सराहते हैं और बच्चों की तरह उनकी मूर्तियां स्थापित करने की बात करते हैं, क्या उस समय हम यह सोचते हैं कि उनके सिद्धांत क्या थे जिनके लिए वह जीवित थे और जिनके लिए उन्होंने प्राण दिये। मेरा ख्याल है कि उनके सन्देश के अनुसार जीवन बनाने के लक्ष्य से हम अभी काफी दूर हैं। लेकिन मेरा यह विश्वास है कि वे महान् शक्तियां जिन्हें उन्होंने (गांधीजी ने) प्रचलित किया था, चुपचाप किन्तु जोरों के साथ काम

कर रही है और भारत को उस ओर ले जा रही है जिधर ले जाने की उन्हें इच्छा थी। दूसरी शक्तियां भी हैं जैसे असत्य की, विनाश की, उद्दण्डता की, संकीर्णता की, जो हमें विपरीत दिशा में ले जा रही हैं। जिस प्रकार सारे संसार में अच्छाई और बुराई के बीच संघर्ष चल रहा है उसी तरह इन दोनों शक्तियों में भी निरन्तर युद्ध जारी है। अगर हम गांधीजी की स्मृति का आदर करें तो हमें क्रियात्मक रूप से ऐसा करना होगा और उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए, जिसके कि वह प्रतिनिधि थे, निरन्तर प्रयत्नशील होना पड़ेगा।

मुझे अपने देश पर, अपनी राष्ट्रीय बातों पर और अनेक बातों पर बड़ा गौरव है। लेकिन मैं यह अभिमानवश नहीं, नम्रतापूर्वक कह रहा हूं; क्योंकि घटनाओं ने मुझे अपमानित और अक्सर लज्जित किया है और भारत का वह स्वप्न जो मैंने बना रखा था कभी-कभी धीमा पड़ गया है। मैंने भारत से प्रेम किया, मैंने भारत की सेवा करने की कोशिश की। इसलिए नहीं कि यह भौगोलिक दृष्टि से विशाल है, या इसलिए कि इसका अतीत महान् था, बल्कि इसलिए कि मुझे वर्तमान भारत में विश्वास है और यह मेरी अटल धारणा है कि भारत सत्य, स्वतन्त्रता और जीवन के ऊंचे आदर्शों पर कायम रहेगा।

क्या आप चाहते हैं कि भारत उन्हीं महान् उद्देश्यों और आदर्शों का अनुगामी हो जिन्हें गांधीजी ने हमारे सामने रखा है? यदि आप ऐसा ही चाहते हैं तो आपको भी उसी प्रकार सोचना और काम करना होगा। तब आप क्षणिक आवेशों के प्रवाह में बह नहीं सकते और न छोटे-छोटे प्रलोभनों के वशीभूत हो सकते हैं। आपको ऐसी सब प्रेरणाओं को जड़ से खोदकर फेंक देना होगा, जिससे राष्ट्र निर्बल होता हो चाहे वह प्रेरणा सांप्रदायिकता की हो, भेदभावना की हो, मजहबी तास्सुब की हो, प्रान्तीयता की हो या वर्ग-भेद की हो।

हम कई बार कह चुके हैं कि इस देश में हम सांप्रदायिकता बरदाश्त नहीं कर सकते। हम स्वतन्त्र धर्म-निरपेक्ष राज्य बना रहे हैं जहां हरएक मजहब और हर

प्रकार के विश्वासों को बराबर की आजादी और इज्जत है, जहां प्रत्येक नागरिक को बराबर की स्वतन्त्रता और बराबर के अवसर प्राप्त हैं। इसके होते हुए भी कुछ लोग अभी तक सांप्रदायिक और भेदभाव की भाषा का प्रयोग करते हैं। मैं आपको बताना चाहता हूँ कि मैं इसके बिल्कुल खिलाफ हूँ और मुझे आशा है कि यदि आप गांधीजी के विचारों पर विश्वास रखते हैं तो आप लोग भी इसी तरह अपनी पूरी शक्ति से इसका विरोध करेंगे।

दूसरी बुराई प्रान्तीयता है और आजकल यह बहुत दिखाई देती है और खूब जोरों से है। बड़े-बड़े प्रश्न भुला दिये जाते हैं। इसका भी विरोध करना है और इसके खिलाफ लड़ाई करनी है।

हाल में कुछ लोगों ने हिन्दुस्तान को आततायी कहा है। मैं केवल यही कह सकता हूँ कि यह उनकी बे-समझी है। अगर भारत किसी दूसरी क़ौम के खिलाफ जबरदस्ती का रास्ता लेने लगे तो भारत सरकार में मेरा या मेरे साथियों का कोई स्थान नहीं रह जाता। अगर हम जबर्दस्ती करने लगें तो हम अपने सिद्धांतों के और गांधीजी की शिक्षा के प्रति विश्वासघात के अपराधी होंगे।

हमारे पड़ोसी देश पाकिस्तान ने पिछले हफ्तों में एक आश्चर्यजनक ज्वर का प्रदर्शन किया, वहां के अखबारों को और वहां के नेताओं के सार्वजनिक भाषणों को पढ़कर मुझे आश्चर्य हुआ। इन भाषणों का असलियत से कोई संबंध नहीं; बल्कि इससे बेतुका डर और बुरी कल्पनायें पैदा होती हैं। अगर पाकिस्तान के रहनेवालों को घृणा और भय से भरा हुआ साहित्य हर रोज पढ़ने को मिलता है तो कोई आश्चर्य नहीं कि वे अपने सामने भारत का ऐसा चित्र बना लें जिसका असलियत से कोई संबंध न हो। मुझे इसका बहुत दुख है, क्योंकि जैसा मैंने पहले कहा है, मैं पाकिस्तान के रहनेवालों को गैर नहीं समझता। वे हमारे देशवासी रह चुके हैं और वे या हम न तो पहले के बन्धनों से मुक्त हो सकते और न अपना गहरा रिश्ता भूल सकते हैं, क्षणिक आवेश से हम चाहे कितने ही अलग क्यों न हो

जायें। मैं सच्चे हृदय से और मित्रता के भाव से उन लोगों को, जो पाकिस्तान में हिन्दुस्तान के खिलाफ झूठा प्रचार कर रहे हैं, चेतावनी देना चाहता हूँ कि इस प्रकार वे अपने देश और अपनी क़ौम की कुसेवा ही कर रहे हैं।

मैं पाकिस्तान निवासियों को यह विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि भारत किसी भी देश से जबर्दस्ती नहीं करना चाहता, पाकिस्तान के खिलाफ तो सबसे कम। हम चाहते हैं कि पाकिस्तान शान्ति से रहे, उन्नति करे और हमारे साथ उसका सबन्ध घनिष्ठतम हो। हमारी ओर से कोई जबर्दस्ती न होगी।

लेकिन जबर्दस्ती हुई है असभ्य और पाशविक। काश्मीर निवासियों के खिलाफ और भारतीय यूनियन के खिलाफ। हमने इस जबर्दस्ती का उसी प्रकार मुकाबला किया जैसा किसी भी आत्म-सम्मानी राष्ट्र के लिए जरूरी था। बात बहुत दिनों तक याद नहीं रहती, काश्मीर में आज से ११ महीने पहले क्या हुआ यदि हम याद कर लें तो अच्छा हो। पाकिस्तान ने इन्कार कर दिया कि वह उस मामले में किसी प्रकार फंसा है। अकाट्य प्रमाणों के सामने भी उससे इन्कार करता रहा। इसने सुरक्षा परिषद् के सामने अपने मुकदमे की सफाई इसी इन्कार के आधार पर पेश की और अब उसे स्वीकार करना पड़ रहा है कि उसकी फौजें काश्मीर में, जो भारत का एक अंग है, लड़ रही हैं। इतिहास में शायद ही इस किस्म का दूसरा कोई उदाहरण हो जहां सत्य से एकदम इन्कार करने के आधार पर कोई मुकद्दमा तैयार किया गया हो। संयुक्तराष्ट्र के कमीशन ने समझौते का प्रस्ताव पेश किया। हमने उसे स्वीकार कर लिया। पाकिस्तान ने अपने अभिमान और अहंकार में आकर उसे अस्वीकार कर दिया।

मैं आपको और पाकिस्तान में रहने वालों को बताना चाहता हूँ कि चाहे जो हो, किसी भी तरह हम जबरदस्ती के सामने सर झुकाने वाले नहीं हैं। हम आखीर दम तक लड़ते रहेंगे, क्योंकि इसमें सिर्फ काश्मीर की आजादी का ही प्रश्न नहीं है, बल्कि भारतवासियों के आत्मसम्मान और राष्ट्रीय कानून की इज्जत

का भी सवाल आ जाता है।

पिछले साल और उसके पहले भी बहुत-सी बातें ऐसी हुई है कि जिनसे मुझे गहरी चोट पहुंची है, क्योंकि वे बुरी थीं और वह प्रकाशित करती थीं कि हम अपने पूज्य गुरु की शिक्षाओं से गिर गये है,लेकिन हमें इस बात का कोई अफसोस नहीं कि हम काश्मीर में या हैदराबाद में क्या कर रहे है या क्या किया है। जो कुछ काश्मीर और हैदराबाद में हमने किया या कर रहे है, यदि न करते, तो इससे कहीं अधिक परेशानी, उद्दंडता और मुसीबत पैदा हो जाती। अगर भारत काश्मीर को बचाने के लिए न जाता या हैदराबाद के निवासियों की सहायता के लिए न दौड़ता जिन्हें एक सिद्धांत-हीन गुट पस्त कर रहा था तो हमें भारत के ऊपर लज्जा आती।

दूसरे देशों में, चाहे जो कुछ भी हो जाये, हमें शान्ति से रहना चाहिए और गांधीजी द्वारा बताये सत्य-पथ पर चलना चाहिए। अगर हम गांधीजी पर श्रद्धा और विश्वास रखें तो इसी में भारत की सेवा है और आत्म-विश्वास भी और इसी में इस देश का, जो हमें इतना प्रिय है, कल्याण भी है।

जय हिन्द !

एक साल बाद

[३० जनवरी १९४९ को गांधीजी की पहली बरसी पर आल इंडिया रेडियो से दिया गया भाषण]

दोस्तो और साथियो, एक साल पहले इसी जगह से बोलते हुए मैंने कहा था कि जिस रोशनी ने हमारी जिंदगी को रौशन किया था वह बुझ गई है और ऐसा जान पड़ता है कि अंधेरा हमें चारों तरफ से घेर लेगा। मुसीबतों से भरे हुए उस साल के बोझ को आपने और मैंने बड़ी हिम्मत के साथ उठाया और आज मैं फिर आपके सामने बोल रहा हूं।

वह रोशनी बुझी नहीं है; क्योंकि वह पहले से कहीं ज्यादा तेजी से

रही है और हमारे प्यारे नेता का संदेश हमारे कानों में गूंज रहा है। फिर भी किस तरह हममें से बहुत-से लोग आपसी बैर की वजह से अक्सर उस रोशनी की तरफ से अपनी आंखें और उस संदेश की तरफ से अपने कान बन्द कर लेते हैं। आज हमें अपनी आंखें, अपने कान और अपने दिल खोलने चाहिएं और पूरी श्रद्धा के साथ गांधीजी को याद करनी चाहिए। सबसे ज्यादा हमें यह सोचना चाहिए कि वह किन-किन बातों के हामी थे और हमसे क्या-क्या करने को कहते थे।

आज शाम को हममें से बहुत-से लोगों ने—मुल्क भर के शहरों, कस्बों और गावों में—गांधीजी के संदेश को दुहराये जाते सुना है और उसकी रोशनी में नये सिरे से काम करने का व्रत लिया है। इस संदेश की जितनी जरूरत आज की पागल और बिखरी हुई दुनिया में है उतनी पहले कभी नहीं थी। बारबार इस दुनिया ने अपनी गुत्थियों को हिंसा और नफरत से सुलझाने की कोशिश की है और बारबार उसे नाकामयाबी और बरबादी का सामना करना पड़ा है।

इसलिए अब हमें अपने कड़ुवे अनुभव से सबक सीखना चाहिए। वह सबक यह है कि हम जिंदगी में नैतिक बातों को नहीं भुला सकते और अगर भुलायेंगे तो खुद ही जोखिम उठायेंगे। वह सबक यह है कि अपने मुल्क और दुनिया की बुराइयों को हम लड़ाई-झगड़े और नफरत से नहीं, बल्कि अमन के तरीकों से, एक-दूसरे के कंधे से कंधा भिड़ाकर और बिना किसी स्वार्थ के आजादी व सचाई की सेवा करके दूर कर सकते हैं। वह सबक यह है कि हमें अपने मुल्क के सभी लोगों में एकता और मुहब्बत बढ़ानी चाहिए और जन्म, जाति या धर्म से पैदा होने वाले सभी भेदभावों को मिटा देने की कोशिश करनी चाहिए, यहां तक कि जो लोग हमारी बुराई चाहते हैं उनके आगे भी हमें दोस्ती का हाथ बढ़ाना चाहिए और उनकी मुहब्बत जीतने की कोशिश करनी चाहिए। दुनिया के मुल्कों से हम कहते हैं कि दूसरों से हमारा कोई झगड़ा नहीं; हम तो दुनिया के सभी लोगों की आजादी और खुशहाली को मजबूत बनाने के बड़े काममें सिर्फ आपका दोस्ताना हाथ चाहते

हैं। हम दूसरों पर हुक्म चलाना या उन पर से कोई फायदा उठाना नहीं चाहते, लेकिन हम अपनी आजादी की पूरी ताकत के साथ रक्षा करेंगे, चाहे उसके लिए हमें कितनी भी कीमत क्यों न चुकानी पड़े। हो सकता है कि आज हमारी आवाज कमजोर हो, लेकिन वह जो संदेश सुनाती है वह कोई कमजोर संदेश नहीं है। उसमें सत्य की ताकत है और वह अमर रहेगा।

आइये, इसी खयाल और इसी प्रण के साथ आज हम अपने गुरु और अपने उस प्यारे नेता को श्रद्धांजलि भेंट करें, जो हमें छोड़ तो गया है, लेकिन फिर भी हर वक्त हमारे साथ है। हमें चाहिए कि हम अपने को उसके, अपने मुल्क के, अपनी प्यारी मातृभूमि के काबिल बनावें—वह मातृभूमि जिसकी सेवा का आज हमने फिर व्रत लिया है।

'एक खयाल'

[दिल्ली में राजघाट पर सर्वोदय दिवस समिति द्वारा आयोजित 'गांधी मंडप प्रदर्शनी' का उद्घाटन करते हुए ३१ जनवरी १९४९ को दिया गया भाषण।]

आप लोगों ने पहले भी नुमायशें देखी होंगी—बहुत बड़ी-बड़ी और शानदार नुमायशें। लेकिन आज जिस नुमायश को देखने के लिए आप लोगों को दावत दी गई है वह नुमायश के लिहाज से कोई बड़ी चीज नहीं है। इस नुमायश में आपको कोई अजीब चीज देखने को नहीं मिलेगी; कुछ तस्वीरें, कुछ किताबें और कुछ पत्र हैं, जो आप लोग यहां देखेंगे। जरूरत है इस बात की कि हम इन चीजों को देखकर उनकी याद ताजा करें। गांधीजी ने कितना बड़ा असर किया था इस मुल्क पर, उसे देखकर हैरत होती है। चाहे जैसी अच्छी तस्वीरें हों, चाहे जैसे अच्छे चित्र हों, महात्माजी को क्या कोई चीज व्यक्त कर सकती है? गांधीजी से मिलने के बाद, नजरों से उनका रूप ओझल हो जाने के बाद, एक खयाल रह जाता था। गांधीजी एक खयाल थे—कमजोर शरीर में एक जबरदस्त आत्मा थे। असल

नुमायश तो होगी करोड़ों दिलों की, करोड़ों दिमागों की। गांधीजी इतने महान् थे कि उनकी शान का अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता। उनकी महानता को हम किन गजों से नापें? दुनिया में कुछ लोग होते हैं जिनकी शान का अन्दाजा उनके जीवन से कूता जाता है—उनके ओहदों से और मरने के बाद उनकी मूर्तियों और तस्वीरों से। कम ऐसे होते हैं जिनकी नापतोल मामूली गजों से नहीं होती—इसलिए उनकी शान का सवाल ही नहीं उठता। कहना पड़ेगा कि जो हुआ वही शानदार है।

अब अंदर आप नुमायश देखने जायेंगे तो वहां आपको एक झोपड़ी का नमूना दिखाई देगा। यह झोपड़ी हर पहलू से सेवाग्राम में बापू की झोपड़ी की तरह है। एक मामूली-सी झोपड़ी जहां वह रहते थे, लेकिन मुल्क के कोने-कोने से लोग वहां यात्रा के लिए जाते थे। तमाम दुनिया की निगाहें उसकी ओर हो गई थीं। इसकी वजह थी वह आत्मा जो उसमें निवास करती थी। आजकल के विज्ञान ने जो सहूलियतें इंसान के लिए सोची हैं उनमें से वह वहां बहुत कम का इस्तेमाल करते थे। वह हमेशा ऐसी ही जगहों में रहना पसन्द करते थे। भंगियों के साथ रहना उन्हें अच्छा लगता था। कभी-कभी उनके दोस्त उन्हें अपने साथ रहने के लिए भी खींच ले जाते थे। उनके बड़े-बड़े महल होते थे, लेकिन झोपड़ी हो या महल, सेवाग्राम हो या लंदन—गांधीजी का काम हमेशा एक-सा चलता था। कोई रुकावट, कोई बाधा उसमें उपस्थित नहीं होती थी।

यह नुमायश एक घास-फूस की इमारत में रखी गई है—ऐसी इमारत जो किसी भी गांव में बन सकती है। लेकिन इसके अन्दर जो खूबसूरती है, जो कला है, वह हमें एक सबक देती है और वह यह कि खूबसूरती सिर्फ ईंट-पत्थर से ही नहीं आती। आप लोग नुमायश देखेंगे तो कुछ को खुशी होगी और कुछ को रंज होगा। मुझे उम्मीद है कि नुमायश देखकर उनका असली खयाल—वह खयाल जो असलियत में गांधी था—आपके सामने आयेगा।